वशिष्ठ ने कहा—"यह सब गप्प है। किसी को इस पर विश्वास हो सकता है?"

"फिर भास्करन ने कहा—'कल का समय हम देते हैं। जो चाहे आए, हम उसे बेहोश करेंगे।,"

वशिष्ठ जोश में आ गए। बोले—"अच्छा, मैं चलूगा। कहूगा—'मुझे बेहोश कीजिए'। देखूगा उनका हिप्नोटिज्म।"

तै हुआ। ६ बजे संध्या से सभा थी। पाच बजे से ही वशिष्ठ तैयार होने लगे और साढे-पाच बजे ये लोग जाकर सबसे आगे बैठ गए, जैसे आजकल महंगी के दिनों में किसी दावत का निमन्त्रण पाकर भूखा परिवार आसन जमा लेता है। ६ बजे के लगभग हाल भर गया। परलोक के प्रति इतनी आस्था लोगो को है, यह उसी दिन जान पडा। भारत की विशेषता है कि इस लोक की ओर कम ध्यान रहता है—मृत्यु के पश्चात् जिस लोक में मनुष्य जाने वाला होता है, उसी की ओर अधिक आकर्षण रहता है। कोटि भास्करन महोदय ठीक समय से पधारे। कुरता-धोती के ऊपर आपने लाल मखमल का बिना बटन का लम्बा ओवरकोट पहन रखा था। ओवरकोट के ऊपर पचास-साठ पदक टंके हुए थे, जैसे रक्त में कार्पसल (रक्ताणु) टहल रहे हो। आपके सामने, मंच पर, एक लम्बी मेज़ रखी थी। उस पर साफ़ नीले रग की चादर बिछी थी। आपने मेज़ के सामने खडे होकर दर्शको को नमस्कार किया और कहा—"देवियो और सज्जनो, आपने कल मेरा योग देखा। भगवान् की कृपा है, मैंने दूसरे जगत् से सम्पर्क स्थापित कर लिया है। राकेट अथवा स्पुतनिक से चाद और मंगल ग्रहो पर भौतिक विज्ञानवादी भले ही पहुंच जाए, किन्तु आत्मा के संसार में उनका पहुचना असम्भव है। वे आपको स्वर्ग की झाकी नही दिखला सकते। यद्यपि अभी एक-एक व्यक्ति ही स्वर्ग के दर्शन कर सकता है, पर मैं वह समय लाऊगा, जब आपमें से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आखो से स्वर्ग देखेगा—अपने मृत सम्बन्धियो से भेंट करेगा। पृथ्वी तथा स्वर्ग की दूरी न रह जाएगी। आज इस समूह में जो चाहे, जिसकी इच्छा हो, यहा आ जाए। मैं उसे 'हिप्नोटाइज़' करूगा। पहले उसे अचेतन अवस्था

में ले जाऊंगा और तब, जहा कहिएगा, उसे ले जाऊंगा। आप मे से जो भी चाहे, वहा का हाल पूछ लीजिएगा।"

उनके भापण में सत्य का उतना ही वल जान पडता था, जितना सेना के कूच करने के पहले सनापति के भापण में होता है। दो-तीन मिनट तक हाल में शाति रही। इसके पश्चात् पीछे की कुरसी से एक सज्जन उठे और आगे की कुरसी से वशिष्ठ उठे। जब तक पीछे वाले सज्जन मच तक पहुचे, वशिष्ठ मेज़ के पास पहुच गए। कोटि भास्करन ने कहा—"आपको स्वर्ग में विश्वास है? जिसे विश्वास न होगा, वह वेहोश नही हो सकता।"

वशिष्ठ ने कहा—"मुझे पूरा विश्वास है। मैं स्वर्ग देख कर अपना विश्वास और पक्का करना चाहता हू।"

कोटि भास्करन ने उन्हें मेज़ पर लेटा दिया और एक कागज़ पर कुछ लिखकर दिया कि इस मन्त्र को पाच वार पढ लीजिए मन में। वशिष्ठ जव मन्त्र पढ चुके, तव भास्करन ने उनके ऊपर हाथ घुमाना आरम्भ कर दिया। पाच-सात मिनट तक व हाथ घुमाते रहे। इसके वाद पछा—"कहिए, आप कहा है?"

कोई जवाव नही।

भास्कर ने पुन. कहा—"देखिए, मैं पूछ रहा हू कि आप इस समय कहा है?"

वशिष्ठ ने धीमे स्वर में कहा—"अन्धकार, घोर अन्धकार!"

जनता की उत्सुकता वढ गई। प्राय सभी लोग जानते थे कि वशिष्ठ अमुक कालेज में प्राध्यापक हैं। उनके चरित्र से भी सभी अभिज्ञ थे। उन्हें वेहोश देखकर सब लोगों की उत्सुकता वेहद वढ गई।

कोटि भास्करन ने दो मिनट वाद पूछा—"अव क्या देख रहे हैं आप?"

एक क्षण के पश्चात् धीमे-धीमे स्वर में वशिष्ठ वोले—"आप मुझे कष्ट न दीजिए। वाह! वाह! ऐसा प्रकाश, मानो सोने में किसी ने दूध मिला दिया। यह शीतलता—कौन लोक ह, कौन देश है? चला जा रहा हूं। सडक डनलपिलो से भी कोमल किसी वस्तु की वनी है। मेरे आगे एक फाटक है—वहुत विशाल, हरा-हरा! पन्ने का वना मालूम होता है।

उसके ऊपर इद्रधनुषी अक्षरों में लिखा है—'स्वर्ग, प्रथम लोक !' इसी में प्रवेश कर रहा हूं।"

कोटि भास्करन ने कहा—"अब इन महानुभाव की आत्मा ने स्वर्ग में प्रवेश किया है। मै तो आपको जानता भी नही । नाम भी नही जानता । आप लोग यदि कोई प्रश्न पूछना चाहते है, अथवा किसी की आत्मा से कुछ जानना चाहते है, तो कृपया पूछें।"

पचासों हाथ उठ गए। कोटि भास्करन ने कहा-"यह मै जानता हूं कि आप सभी स्वर्ग का परिचय प्राप्त करने को उत्सुक है। वात ही ऐसी है। पहले से परिचय प्राप्त कर लेने के पश्चात् आपको जव वहां जाने का सौभाग्य होगा, तो कितनी सुविधा होगी। परन्तु आप यह भी जानते है कि समय हमारे पास कितना है? आपके जिन महानुभाव की आत्मा इस समय स्वर्ग पहुंची हुई है, उन्हें भी इस अवस्था मे अधिक देर तक नही रखा जा सकता। एक वार ऐसा हुआ कि कुछ देर तक आत्मा स्वर्ग में विचरती रही । उसका मन वहां ऐसा लगा कि वह वापस आना ही नही चाहती थी। वड़ी कठिनाई से उसे वापस बुला सका । यदि कही इन साहव का भी वही हाल हुआ, तव क्या होगा ? शायद आप ऐसा न चाहते होग । यद्यपि स्वर्ग सुन्दर स्थान है, फिर भी आप यह न चाहेगे कि ये अभी से वहा के नागरिक वन जाएं। आप लोगो में से सिर्फ पाच व्यक्ति प्रश्न पूछें।"

एक सज्जन तुरन्त उठ खडे हुए और वोले—"यह वताने की कृपा करें कि मेरे ससुर स्वर्ग में है कि नरक में ? उन्होने जितना दहेज देने का वादा किया था, उतना नही दिया।"

कोटि भास्करन ने कहा—"आप लोग इस कार्य को हंसी न वनाए। यह वहुत गम्भीर काम है।"

व सज्जन वोले—"मै विल्कुल हँसी नही कर रहा हूं। मै यह जानना चाहता हूं कि वादा तोड़ने का दंड मिलता है कि नही।"

कोटि भास्करन ने उक्त सज्जन से उनके ससुर का नाम पूछा और तव वशिष्ठ से कहा—"मुरादावाद-निवासी सेठ पेड़ामल इस समय स्वर्ग में है कि नरक में?"

जनता बड़ी उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। एक मिनट के वाद उत्तर मिला—"सेठ पेडामल पहले नरक में आए। जिस दिन आए, उसी दिन से यमराज का पाव दावना आरम्भ किया। उनकी देह भी दवाने लगे। ऐसा आज तक किसी ने नही किया था। चार घटे के वाद वे स्वर्ग भेज दिए गए। अब वे यमराज के शरीर पर मालिश करते है और इस समय वहुत आनन्द से जीवन विता रहे है। वे यम की पत्नी घूमोर्णा के प्रसाधन का सामान प्रति दिन एकत्र करते है। उन्ही की सिफारिश से वे स्वर्ग का सुख भोग रहे है।"

इसके वाद अनेक लोगो ने अनेक प्रश्न किए। किसी ने अपनी पत्नी का हाल पूछा, तो उसके वारे में वताया गया कि उसे अव स्मरण नही है कि पृथ्वी पर किसी से विवाह हुआ था भी कि नही। उसने वताया कि मृत्युलोक से यहा आने पर शराव तुरन्त पिलाई जाती है। उसका हरा रग होता ह। स्वाद में वह मीठी होती है। यह सवको पीनी पडती है—चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, जैन हो या वौद्ध, ईसाई हो या मूसाई, आर्य-समाजी हो या वाममार्गी। उसके वाद कुछ याद नही रहता, कि हम कहा थे या नही थे। कुछ और प्रश्न के पश्चात् कार्य समाप्त हुआ। कोटि भास्करन ने जनता को धन्यवाद दिया और कहा—"मै आज सध्या को मैसूर चला जाऊगा। यदि कोई विशेष रूप से मिलना चाहे, तो जहा मै ठहरा हू, वहा मिल सकता है।"

वशिष्ठ लौट कर हम लोगो के पास आ गए। मेरा मन आश्चर्य से उसी प्रकार भर गया था, जैसे नेताओ की गर्दन स्वागत में गजरो से भर जाती है। पर वे चित्र के समान चुप थ। अनिरुद्ध से न रहा गया। उन्होने कहा—"कहो भाई, ुम तो विश्वास ही नही करते थे। तुम्हें उसने कैसे 'हिप्नोटाइज" कर दिया!"

वशिष्ठ मुस्कराए। वोले—"यह सव उस मत्र की करामात थी, जो उसने पुरजे में लिखकर दिया था।"

मैंने कहा—"अ, तव तो वह विचित्र और वहुत ही उपयोगी मत्र रहा होगा। तुम याद कर लेते, तो वहुत अच्छा होता।"

वशिष्ठ ने कहा—"मैंने याद कर लिया है।"

मैंने कहा—"यह तो तुमन करामात की। हम लोगों को भी वेढ़ोग करना। हम लोग भी दूसरे लोकों से वातचीत कर सकेंगे।"

वशिष्ठ ने कहा—"मन्त्र वहुत सरल है। अभी वता सकता हूँ।"

अनिरुद्ध ने पूछा—"क्या था?"

वशिष्ठ ने कहा—"उसने कागज़ पर लिख कर दिया था कि 'हमारी इज्ज़त और रोटी का सवाल है। आप भले आदमी हैं। ऐसा न कीजिए कि मेरा अपमान हो।'"

ज़हरीला पार्ट

भारतभूषण अग्रवाल

उसका नाम तो कुछ न था, क्योकि सापो के नाम नही होते; पर नाम न होने पर भी उसका अस्तित्व था और अपने अस्तित्व का उसे पूरा ज्ञान भी था। पर यह ज्ञान ही मानो उसकी सबसे वडी समस्या थी, क्योकि जव उसे लगता कि उसके अस्तित्व को स्वीकार नही किया जा रहा है, तो उसे चोट लगती और वह तड़प उठता।

उसे मनुष्यो से वडा प्रेम था। आप चाहे इसका विश्वास न करें—असल में, उसे कभी भी ऐसा मनुष्य नही मिला, जिसने उसकी इस बात पर विश्वास किया हो—फिर भी उसे मानव से प्रेम था। इसी कारण वह अक्सर बिलबिला उठता था कि उसके अस्तित्व के बावजूद मनुष्य उसे क्यो नही मानते, या मानना नही चाहते, और क्यो उसका अपना प्रेम मानव-मन में प्रतिध्वनिया उत्पन्न नही करता। जव कभी वह मनुष्य के पास जाने की चेष्टा करता, तो या तो मनुष्य ही भाग जाता, या फिर वह ऐसी तैयारिया करता कि उसी को भागना पड़ता। इस स्थिति में उसके त्राम का ठिकाना नही था।

और तव, एक दिन इस जटिल समस्या को सुलझाने के लिए उसने ज़मीन के नीचे प्रवेश कर समाधि लगाई और भूखा-प्यासा, भगवान् का स्मरण करने लगा।

भगवान् तो प्रकट नही हुए, पर उसके मन में ही एक नया ज्ञान जागा। उसने पाया कि मनुष्य उसका अस्तित्व मानता है, अन्यथा वह उसे क्यो

भगा देता है, या स्वयं ही भाग जाता है ? इस ज्ञान से उसे कुछ आश्वासन मिला—उसका त्रास कुछ घट गया।

पर उसका मानव-प्रेम और उसका प्रतिदान ? वह फिर अचल-अटल वैसे ही समाधि लगा कर बैठा रहा।

स्वप्न, सुषुप्ति और न-जाने कौन-कौन-सी अवस्थाएं पार कर लेने पर उसके मन में दूसरा ज्ञान उदित हुआ। उसके मन मे प्रेम है, तो हुआ करे, पर उसके मुख में विष भी तो है। यह उसका विष ही है, जो उसे मानव से तिरस्कार दिलाता है।

ज्ञान की इस नई उपलब्धि ने उसका दर्द बहुत बढा दिया। वह न-जाने कितने दिनो तक भगवान का स्मरण करता, रोता-गिड-गिडाता रहा कि इस विष से निस्तार मिले, पर उसकी करुण पुकार निष्फल ही रही।

और तब, उसने यह निश्चय किया कि वह अपने विष का कभी प्रयोग न करेगा। क्या यह देख कर भी कि मै सम्पूर्ण भाव से समर्पित हूं, मानव से मुझे प्रतिदान नही मिलेगा ? इस निश्चय से उसका मन हल्का हो गया। वह प्राणो में एक नए आलोक का अनुभव करने लगा। कुछ दिन नियमित आहारादि से पुन स्वास्थ्य लाभ कर वह अपने निश्चय पर दृढ होकर बस्ती की ओर चला। बस्ती के सीमान्त में ही एक बहुत बडा बंगला था। वह ज्यों ही उसके पास पहुचा, उसे बीन पर मोहन-राग बजता सुनाई दिया। खुशी के मारे वह उछल पडा। "नही, नही, यह मेरा भ्रम है।"—उसने सोचा—"मानव भी मुझसे प्रेम करता है— वह मुझे बुला रहा है। वह जानता है बीन में मेरे लिए कितना आकर्षण है।" और, राग के स्वरो की डोर से खिचता वह अन्दर प्रविष्ट हुआ। पहले मुलायम घास मिली। "सचमुच, मनुष्य कितना महान् है!"—उसने सोचा—"मेरे लिए घर में भी कोमल घास की शय्या सजा रखी है।"

फिर दालान, फिर बरामदा, फिर कमरे पार करता वह उस कमरे मे पहुचा, जहा रेडियो से बीन क स्वर निकल रहे थे। रेडियो से आने वाले क्षीण प्रकाश के अतिरिक्त सारा घर अंधकार में था। उसे लगा, अंधकार का यह प्रबन्ध गृहस्वामी ने सचमुच उसके स्वागत में ही किया था।

बीन अब भी बज रही थी। उसका मन एक नई आशा, एक नए मोह से आन्दोलित हो रहा था। वह मृदु-मंथर गति से बढ़ता हुआ, रेडियो की छोटी-सी मेज़ पर चढ़ गया और कुण्डली मार कर, आराम से बैठ, अपना फन रेडियो से लगा दिया। अपने भोलेपन में वह यह सोच रहा था कि अभी इस बीन के स्वरों से निर्मित माया-कक्ष के द्वार खुलेंगे और इसमें से मानव निकल कर उसे अपनी भुजाओं में भर लेगा। पर जिस भुजा ने उसे स्पर्श किया, वह रेडियो के भीतर से नहीं, बाहर से आई, और ज्यों ही उसे स्पर्श की सिहरन महसस हुई, त्यों ही वह मानवी भुजा तड़प कर अलग हो गई। पास में पड़े पलंग से एक छायाकृति धीमे-धीमे उठी और सहमते-सहमते न-जाने किधर चली गई।

क्षण-भर बाद सारा कमरा प्रकाश से भर गया। उसकी आंखें जलने लग गईं। बड़ी मुश्किल से वह देख सका कि एक मनुष्य दूर खड़ा उसे ताक रहा है। उसके चेहरे का भाव पढ़ना तो उसके लिए असम्भव-सा था। फिर भी, न-जाने क्यों, उसे लगा कि यह वह स्वागत नहीं है, जिसकी वह आशा बांधे था।

थोड़ी देर अगति रही। बीन बजती रही, वह सुनता रहा, और दूर खड़ा मनुष्य उसे घूरता रहा।

अरे! यह क्या! यह केवल उसका अनुमान ही था, या सत्य? उसने आश्चर्य से देखा कि अब एक नहीं, बहुत-से मनुष्य वहां जमा हो गए हैं और सब उसकी ओर उसी तरह घूर रहे हैं।

"आओ!"—उसने कहा—"आओ, मेरे पास आओ न! देखो, मैं तुम्हारे लिए कितनी दूर से, कितनी बाधाएं लांघ कर, यहां आया हूं। तुम्हारी बीन सुनकर भला मैं दूर रह सकता था? आओ, मैं तुम्हें प्यार करता हूं—मैं तुमसे घुल-मिल जाना चाहता हूं।"

पर जब सामने खड़े मनुष्यों की मुद्रा या चेष्टा में कोई अन्तर न पड़ा, तो उसे लगा कि उसकी बात उन तक नहीं पहुंची।

और तब, पहली बार उसे अपनी असमर्थता का ज्ञान हुआ। वह जो-कुछ कहता था, उसका अर्थ था, उद्देश्य था, पर उसकी सारी कथा, उसके प्राणों का सारा निवेदन, मनुष्यों के निकट केवल निरर्थक फुफकार बन कर रह जाता था। "अब मैं क्या करूं?"—वह सोचने लगा।

इतने में मनुष्यों की भीड़ में हलचल मची। उसे कठोर पुरुष-स्वर भी सुनाई पड़े, पर उनका अर्थ समझने में वह भी उतना ही लाचार था। केवल उनकी भंगिमा से ही वह समझ सकता था कि जो-कुछ कहा जा रहा है, वह उसके लिए प्रीतिकर नहीं है।

"मैं समझा नहीं!"—उसने विलख कर कहा—"मैं तो छोटा-सा जीव हूं। तुम्हारी भाषा नहीं जानता। पर तुम तो मानव हो, महान् हो—तुम क्यों नहीं मेरी भाषा समझ पाते? चेष्टा करो, तो क्या सीख नहीं सकते?"

लेकिन दूसरे ही क्षण वह समझ गया कि उसके वचन केवल फूत्कार बन कर रह गए हैं, क्योंकि अब बहुत-से लोग डरावने ढंग से उसकी ओर बढ़ रहे थे और उनके हाथों में विचित्र-विचित्र हथियार थे।

उसके मन ने कहा—"भाग चलो, आसार अच्छे नहीं हैं।" पर फिर उसे अपना निश्चय याद आया और अपनी दृढ़ता से उसे बल मिला। "आने दो, कोई चिन्ता नहीं।"—उसने सोचा—"ये अभी समझ जाएंगे कि मैं इनकी हानि करना नहीं चाहता। जब मैं ज़हर का उपयोग ही न करूंगा, तो फिर ये मुझे क्यों कष्ट देंगे?" और, कहीं उसकी बात फूत्कार में न परिणत हो जाए, इसलिए उसने एक शब्द भी कहना ठीक न समझा। केवल अपना फन झुका कर, गुड़-मुड़ होकर, शान्त भाव से बैठ गया, मानो पालतू हो!

तभी उसके एक लाठी लगी। चोट से वह तिलमिला गया और बड़ी कठिनाई से उसने अपने मुह से निकलते दुर्वचन रोके। उसके मन में बैठा कोई बोल उठा—"अब भी समय है, भाग चलो!" पर उसने अपने फन को एक झटका देकर अपना निश्चय दुहराया—"नहीं नहीं, मैं आज फैसला करके ही रहूंगा। तुम ··· तुम मेरे ज़हर के कारण ही मुझसे घृणा करते हो न? हां, मेरे पास ज़हर है। पर मैं उसका उपयोग न करने का निश्चय कर चुका हूं। मार लो, एक लाठी नहीं, दस और मार लो—पर मैं कुछ नहीं करूगा। बस, यों ही तुमसे करुणा की, मैत्री की, भीख मागता बैठा रहूंगा। आखिर, कभी तो तुम पिघलोगे!"

एक लाठी और। उसकी देह तड़प उठी।

"कोई बात नही!"—उसने मन-ही-मन कहा—"यह तुम्हारा अज्ञान है, जो तुम मेरे साथ यह दुर्व्यवहार कर रहे हो! मैंने तो मुक्त कण्ठ से अपना निश्चय घोषित कर दिया है, पर मैं क्या करू, जो हम एक-दूसरे की भाषा समझने में असमर्थ हैं। लेकिन आचरण की भाषा भी क्या तुम न समझोगे? क्या तुमने कभी ऐसा साप देखा है, जो मार खाकर भी फन न उठाए? फिर, क्या तुम यह नही विश्वास कर सकते कि मैं दूसरी तरह का हू? मैं और सापो से भिन्न हू—मै तुम्हारा मित्र हू?" तभी किसी लोहे के पाश में उसका फन और मुह जकड गया। कोई उसे अपनी ओर घसीट रहा था। "नही, नही, मैं आज यहा से नहीं जाऊंगा। मैं तुम्हें अपने निश्चय का विश्वास दिला कर रहूगा। मै यह नही सह सकता कि तुम मुझे गलत समझते रहो!" उसने मन-ही-मन कहा और अपनी सारी शक्ति से मेज़ पकड ली।

पर जो हाथ उसे खीच रहे थे, वे उससे अधिक सशक्त थे। वह रोता-रिरियाता, मन-ही-मन करुणा की प्रार्थना करता हुआ भी खिचता चला गया और थोडी देर बाद उसने देखा कि उसे एक छोटी-सी हडिया में बन्द कर, बाहर दूर ले जाकर, डाल दिया गया है।

इस घटना के बाद जब उसने फिर समाधि लगा कर भगवान् का स्मरण किया, तो उसे एक नए और परम ज्ञान की उपलब्धि हुई। उसने जाना कि हर व्यक्ति जीवन में एक खास पार्ट अदा करने के लिए बना है, जिससे उसे मुक्ति नही मिल सकती। अपनी सामाजिक स्थिति के आगे व्यक्ति का निश्चय व्यर्थ है।

पहचान

भीष्म साहनी

कई वार किसी आदमी का पूरा परिचय पाने मे वर्षों लग जाते हैं और वर्षों वाद भी आपको यकीन नहीं होता कि आप उसे पूरी तरह जान पाए है, या नही। मुझे भी एक ऐसा ही विचित्र अनुभव एक स्त्री के सम्बन्ध में हुआ। दो वर्षों के गहरे परिचय के वाद मैं उसे शायद कुछ-कुछ जान पाया था; मगर अव मैं सोचता हूं कि वह पहचान भी एकदम अधूरी थी।

लगभग पांच वर्ष पहले की वात है। तव मै अम्वाला छावनी में रहा करता था। अव तो अम्वाला वदल गया है, वहां की आवादी वढ़ गई है और सडकों पर रौनक दिखाई देती है; मगर उन दिनो उसके वड़े-वड़े मैदानो और सपाट-लम्वी सड़को पर केवल फौजी ही घूमते हुए नजर आया करते थे और रात के आठ वजते ही छावनी पर सन्नाटा छा जाया करता था।

इसी अम्वाला छावनी में एक औरत रहा करती थी, जिसे हर उस शख्स ने जरूर देखा होगा, जो उन दिनो अम्वाला में रहा है, क्योंकि वह अक्सर सड़को पर, वगल में हरे रंग की फाइल दवाए घूमती नजर आती थी। लम्वा-ऊंचा कद, सफेद धुले हुए कपड़े, सीधी चाल और वगल में फाइल। कई लोगों की विलक्षणता उनकी शक्ल-सूरत में होती है और कइयों की वेष-भूषा में; मगर उस औरत की विलक्षणता उसके ऊंचे कद और हरी फाइल में थी। यो, न वह युवा थी, न सुन्दरी। जिस वक्त मैंने उसे देखा था, उसकी अवस्था लगभग ४० वर्ष की होगी।

उस औरत को चिट्ठिया लिखवाने का जनून था। छावनी-भर में कोई ऐसा बाबू न था, जिससे एक-आध चिट्ठिया न लिखवाई हो। खुद वह अनपढ़ थी—एक अक्षर भी न जानती थी—मगर चिट्ठिया लिखवाती और हर चिट्ठी की नकल बडी तरतीब से फाइल में लगा लेती। उसकी ये चिट्ठिया निहायत मामूली बातो के बारे में होती—बच्चे की फीस माफ करवाने के बारे में, पानी-बिजली के किसी बिल के बारे में, कभी एक जगह से दूसरी जगह अपनी तबादले के बारे में।

यह ज़रूर अनोखी बात थी, मगर इससे भी अनोखी बात यह थी कि बडे-बडे अफ़सरो की कोठियो में वह बेधड़क चली जाती। मैंने खुद उसे कई बार ब्रिगेडियर, कर्नल और एरिया-कमाण्डर के घरो में से निकलते देखा था। ज़रूरी बात है कि जो स्त्री इस कदर आज़ाद और निडर छावनी में घूमती हो, उसके बारे मे तरह-तरह की बातें उठें। कोई कहता, सिफारिशी चिट्ठिया लेने जाती है, कोई कहता, अपनी जवान बेटियो की कमाई खाती है, कोई कहता, किसी अमीर की तीसरी बीवी थी, मगर किसी गाव से खरीद कर लाई हुई और यहा अब फौजी अस्पताल में मामूली सफाई के काम पर नौकर है। लोगो के बारे में अक्सर हमारी धारणाए किम्वदन्तियो के आधार पर बनती हैं, इसलिए बाबू लोग उससे सचेत रहते थे। अफसरो के डर से चिट्ठियां तो लिख देते, मगर इससे ज्यादा कोई उससे सरोकार न रखता। मेरा भी उससे परिचय हुआ, मैंने भी उसकी कुछ चिट्ठिया लिखी और मैं भी लोगो के कहने पर उससे सावधान रहने लगा। शहर के बडे गिरजे के पीछे, जहा मैं रहता था, उससे थोडा हट कर मैदान के पार पेडो के झुरमुट के पीछे, एक ओवरसियर के अहाते में उसका क्वार्टर था।

गर्मियों की एक रात की बात है। हम क्वार्टरो के सामने अपनी खाटें बिछाए सो रहे थे, जब गहरी रात गए, ऊचा-ऊचा चिल्लाने की आवाज़ें आने लगी। हम सब उठ बैठे और यह शोर सुनने लगे। आवाज़ें ओवरसियर के बगले की तरफ से आ रही थी। कुछ लोग तो यह जान कर फिर करवट लेकर सो गए कि यह उसी आवारा औरत

के घर का कोई झगड़ा है; मगर दो-एक व्यक्ति अपना कौतूहल मिटाने के लिए, लाठिया उठाए, उस तरफ चल पडे। मै भी साथ हो लिया।

आवाजें सचमुच उसी के घर से आई थी। जब हम वहा पहुचे, तो वह औरत हाथ हिला-हिला कर कह रही थी—

"मै एक-एक को दुरुस्त करूगी—मै एक-एक को जानती हू। मै सबको पहचानती नही हू? मै कल ही करनैल साहब को चिट्ठी लिखवाऊगी!"

उस वक्त भी चिट्ठी की बात सुनकर हम मन-ही-मन हँसे।

चारो ओर अंधेरा था। केवल उसके छोटे-से क्वार्टर के सामने बत्ती जल रही थी और उस बत्ती के नीचे वह औरत अपने सामने खडी बेटी को हाथ हिला-हिला कर यह सुना रही थी। क्वार्टर के सामने तीन-चार खाटें बिछी थी, जिनमें से एक पर उसकी लड़की और दूसरी पर एक ९-१० वर्ष का बालक चुपचाप घबराए-से बैठे थे।

हमें देखते ही वह हमारे पास चली आई और ऊंचे स्वर में मुझसे कहन लगी—

"बीरजी[१], देखा तुमने, यह भी कोई हाल है!"

मालूम हुआ कि यह औरत अपने परिवार-सहित क्वार्टर के बाहर सोई हुई थी, जब कुछ फौजी रात का शो देख कर सिनेमा-घर से लौटे और शराब के नशे में पहले आवाजें कसने लगे और फिर नज़दीक आकर ककड-पत्थर फेंकने लगे। मगर जब यह चिल्लाई और गालिया देती हुई उनके पीछे दौडी, तो वे वहां से भाग गए।

मै पहले भी हैरान था कि यह औरत किस प्रकार इस अलग-थलग छावनी में आकर टिकी हुई है। अब मेरे मन में भी खटका पैदा हुआ। अगर फौजी आज आए है, तो पहले भी आते होगे। आखिर, फौजी हर घर पर आवाजें नही कसते। मैंने उस औरत की बड़ी लड़की को भी देखा। साधारण-सी लडकी जान पडी, मगर कुछ निश्चय न कर पाया कि वहा भी बनावटी क्या है और असल क्या। सबसे अचम्भे

१ भाई साहब

की बात यह थी कि ओवरसियर के बगले में से कोई भी उठ कर औरत की मदद को न आया था।

हम लौट आए, मगर दूसरे रोज़ वह उसी तरह अपनी हरी फाइल उठाए, मेरे घर आ धमकी। कहने लगी कि कर्नल रघुवीरसिंह के नाम खत लिख दो। मै उसके मामलो से दूर रहना चाहता था, मगर वह तो मरते आदमी से भी चिट्ठी लिखवा सकती थी। मैंने बहुत आनाकानी की, मगर आखिर खत लिख ही दिया। उसने सारा खत ऐन बाकायदा मुझसे लिखवाया। पाच आदमियो की शिकायत की, एक-एक का नाम, रैंक और कम्पनी लिखवाई। अपनी स्थिति का रोना-धोना लिखा और उन्हें सज़ा दिलाने की तलब की। साथ ही यह भी लिखवाया कि जो उन्हें सजा न हुई, तो सरकार बदनाम होगी और मैं ब्रिगेडियर साहब तक फरियाद लेकर जाऊगी।

तीन-चार रोज़ बाद वह फिर आ पहुची और एक चेतावनी की चिट्ठी लिखवाई। उसके बाद मामला चुप हो गया। फिर महीनो बीत गए और वह मेरे घर नही आई। मैंने सोचा, उसे जवाब मिल गया होगा या मुमकिन है, किसी दूसरे से चिट्ठिया लिखवाती फिरती हो।

इस घटना के शायद दो-तीन महीने बाद की बात होगी कि मै फिर उसके मामले में आ फसा। और, अब जो-कुछ हुआ, उसकी मुझे तनिक भी आशा न थी।

एक रोज़ सुबह, अभी प्रभात की किरण भी न फूटी थी कि वह मेरे घर आ पहुची। यों भी उसके आने का कोई वक्त नही था। उसे देखते ही मै असमजस में पड़ गया कि अब करू तो क्या करू। उन दिनो मै अकेला था। श्रीमतीजी मायके गई हुई थी। मेरे तो प्राण सूख गए कि सुबह होते-होते यह घर के बाहर निकलेगी, तो साथ वाले बाबू क्या कहेंगे। पर चुपचाप वह अदर चली आई—आखो में काजल लगाए और लाल दुपट्टा ओढे। उसी तरह तेज़ कदम, हाफती सास लेती हुई और हाथ हिलाती हुई। अन्दर आकर वह हँसने-मुस्कराने लगी। वह औरत देखने में बुरी न थी। किसी ज़माने में उसने ज़रूर उस बूढे रईस का दिल अपनी भाव-भगिमा से गरमाया होगा। मगर उस अपने घर में देखकर

मेरा पसीना चू रहा था। मैं सोच रहा था कि जब यह क्वार्टर से बाहर निकलेगी, तो मेरा क्या बनेगा। पर वह हँस कर, दुपट्टे का छोर होंठो पर रखती हुई, बोली—

"वीरजी, तुम तो मिलने से भी रहे। इसी से मैं सुबह-सवेरे तेरे घर चली आई। मैंने सोचा, देर हो गई, तो तुम कहीं निकल जाओगे।"

"बात क्या है?"—मैंने रुखाई से पूछा।

"आज मेरी बेटी का व्याह है। वीरजी, आठ बजे आनन्द-कारज होगा। मेरा यहां कौन है? तुम ज़रूर आना। तुम ही आकर कन्या-दान करोगे।"

मेरी जान-में-जान आई। उसके बाद वह बार-बार आने का अनुरोध करती हुई उठी और हँसती हुई बाहर चली गई।

वह तो चली गई, मगर मैंने निश्चय कर लिया कि मै इस व्याह में नहीं जाऊंगा। पर आठ बजते-बजते मै दुविधा में पड गया। मुझे खयाल आया कि अगर नही जाना था, तो पहले ही उसे कह देना चाहिए था। और फिर, वहां जाने मे कौन-सा पहाड मुझ पर टूट पडेगा? खैर, आठ बजते-बजते मैं उसके घर जा पहुचा और उस रोज़ मैंने उसका जो रूप देखा, वह मै आज तक भूल नही पाया। जो-कुछ मैंने देखा, उससे सब सुनी-सुनाई बातें मन पर से धुल-पुंछ गई और मेरे मन मे उस औरत के प्रति आदर फूट पडा।

मैं ठीक आठ बजे उसके क्वार्टर पर पहुंच गया, मगर वहा एक भी आदमी नही था। क्वार्टर के बाहर ज़मीन पर दो छोटी-छोटी फटी हुई दरिया बिछी थी और एक ओर तौलिये मे ढकी एक पीतल की परात रखी थी। बस। पानी का छिड़काव तक न हुआ था।

मैं अभी वहा खड़ा ही हुआ था कि अन्दर से ऊंचा-ऊचा गाने की आवाज़ आई—"कन्हैया जी आ वडियो साडे वेहडे!"[1] मैंने आवाज पहचान ली। यह वही औरत गा रही थी। मुझे देखते ही वह दौडी-दौडी बाहर चली आई और मेरा हाथ पकड़ कर अन्दर ले गई। सच

१. हे कृष्ण कन्हैया, मेरे आंगन में आओ!

मानिए, इतना गरीब व्याह मैंने उमर-भर में और कभी नही देखा था। कमरे के एक कोने में उसकी बेटी, गाढे की लाल ओढनी ओढे, एक टिमटिमाते दिए के सामने चुपचाप झुकी हुई बैठी थी और छोटा भाई कभी दुल्हन की पीठ पर चढता और कभी जहा मा जाती, उसके पीछे हो लेता।

मगर यह औरत वहा इस तरह घूम रही थी, जैसे रिश्ते के बीसियो आदमी वहा आए हुए हो और उसे पसीना पोछने की भी फुर्सत न हो। कभी सुहाग के गीत गाती, कभी बेटी से हँसी-मजाक करती, कभी गाती हुई अपनी बीमार दूसरी छोटी बेटी के बाल गूथने लगती। चारपाई के नीचे टीन का एक ट्रक रखा था। उसे वह मेरे सामने खीच कर निकाल लाई और खोल कर कहने लगी—"देखो वीरजी, बेटी के लिए पीली साटन का सूट बनवाया है। सारे शहर में इस रग की साटन नही मिलती। यह दोहरा खेस है! यह दरी जेलखाने की बनी है! बीस साल तक नही फटेगी। यह सब बेटी का दहेज है।"

मैंने सुन रखा था कि जब उस औरत का अपना व्याह हुआ था, तो घर मे तीन रात तक मुजरा हुआ था और शहर के छोटे-बडे टूट पडे थे। बेटी का यह दहेज देख कर मेरा जी भर आया।

इतने में एक लडका भागता हुआ अन्दर आया और बोला कि बारात आ गई। हम लोग बाहर आए और देखा कि सचमुच बारात आई है! मगर न बाजा, न फूल, न कोई चहल-पहल। चार टूटे-फूटे-से बाराती पैदल चल कर दरी पर आ खडे हुए थे और उनमें से एक नाटे कद का, काला-सा आदमी, उजले कपडे पहने, गले में हार लटकाए दूल्हा बना खडा था! बस, यही बारात थी।

व्याह हो गया। एक बूढे ग्रन्थी ने, जिसे बाराती साथ लेते आए थे, आनन्द-कारज करवाया। मैंने नि.सकोच कन्यादान किया। मुह मीठा करने के लिए परात में से आटे का हलुवा बाटा गया।

पर शादी की कोई ऐसी रस्म न थी, जो उस औरत ने पूरी न की हो। यहां तक कि वर-वधू को इकट्ठा बिठा कर जो पहले शरारत-भरे

खेल मित्र-सम्बन्धी करते है, उन्हें भी उस औरत ने वर-वधू से कराया, ताकि बेटी के दिल में कोई अरमान बाकी न रह जाए।

बारात लडकी को लेकर लौटने लगी। एक आदमी ने सिर पर ट्रंक उठाया और लड़की अपने पति के पीछे-पीछे, धीरे-धीरे मैदान पार करने लगी। वह औरत अपने एक हाथ से मेरी कोहनी को पकड़े चुपचाप यह सब देख रही थी कि एकाएक मैंने अनुभव किया कि उस स्त्री का हाथ सहसा कापने लगा है। मैंने मुड़कर देखा, उसकी आखो से झर-झर आसू बह रहे थे। सिसकते-सिसकते वह कहने लगी—"मै बेचारी क्या जानू··· क्या होगा वीरजी? लड़का पूरब का है, हम पजाबी है। तुम्हें लडका पसन्द है, वीरजी?"

जैसे पीपल का सूखा पत्ता कांपता है, वह औरत थर-थर काप रही थी। जिस औरत के बारे मे मैंने तरह-तरह की अफवाहे सुनी थीं, जो निर्भीक हो लोगों के घरो में घूमा करती थी और एक राक्षसी की तरह चिल्लाती और गालिया देती, फौजियो के पीछे भाग खडी होती थी, उसमें मा का इतना कोमल हृदय है, यह देख कर मेरा हृदय उसके प्रति आदर से भर गया। मैंने देखा, वह असहाय महिला न मालूम किन-किन मुसीबतो के सामने अपने परिवार को अपने पैरो के नीचे लिए बैठी है। मेरे सब सन्देह दूर हो गए और जो सान्त्वना मै दे सकता था, देकर घर लौट आया।

मगर उक्त शादी के दो महीने बाद ही एक दिन वह औरत पकड़ी गई। उसके साथ ही एक फौजी अफसर भी पकड़ा गया। फौजी अफसर मुअत्तल हो गया और उस औरत को २४ घण्टे के भीतर अम्बाला छोड़ जाने का हुक्म हुआ। औरत पर चोरी का और अफसर पर चोरी का माल खरीदने का इलजाम था।

मालूम हुआ कि शादी के फौरन बाद उस लडकी के पति का तबादला हो गया और वह दूर झांसी चला गया। लडकी उसके साथ गई। कुछ समय बाद वे दोनो छुट्टी पर अम्बाला आए। अम्बाले की सड़को पर पहले तो मा ही घूमती थी, अब बेटी भी नज़र आने लगी। शोख-भड़कीले कपड़े पहने, लिपस्टिक, काजल और

सुर्खी लगाए, जेवर पहने, वह अम्बाला की सडको पर यो घूमती, जैसे किसी नवाब की बेगम हो। लोग कहते, जमादार को उगलियो पर नचा रही है। जब वापस लौटे, तो रास्ते में एक स्टेशन पर दुल्हन ने शोर मचाना शुरू कर दिया कि उसके जेवर चोरी हो गए है। ट्रक में बाकी सब-कुछ मौजूद था, मगर जेवर न थे। जमादार ने बहुतेरा ढूढा, रिपोर्ट लिखवाई, मगर चोर वहा होता, तो पकडा जाता। चोरी तो असल में अम्बाले में हुई थी और जेवरो की असल चोर दुल्हन की मां थी। यो चोरी की बात छिपी रहती, मगर उस औरत को रुपयो की तुरन्त जरूरत थी, सो वह जेवर बेचने गई और पकडी गई। बाद में मालूम हुआ कि अपनी बीमार छोटी लडकी, यानी दुल्हन की छोटी बहन, के इलाज के लिए वह उसी दिन अस्पताल में इन्तजाम करके आई थी और कह आई थी कि शाम तक वह इलाज की पूरी फीस चुका देगी।

इस घटना से शहर में सनसनी फैल गई। हम बाबू लोगो ने तो उसके चले जाने पर चैन की सास ली। कुछ लोगो को रज भी था कि उसे जेल क्यो न हुई। जिस रोज उसे शहर छोडने का हुक्म मिला, वह मुझसे मिलने आई; मगर दूर से ही उसे आती देख, मैं क्वार्टर क पिछवाडे की ओर से भाग गया।

मगर उसने मुझे नही भुलाया। अभी दस रोज भी न बीते होगे कि उसका एक खत मुझे मिला। खत अमृतसर से लिखा हुआ था। वह दिल्ली जाना चाहती थी और उसने मुझस प्रार्थना की थी कि दिल्ली में मेरा कोई जान-पहचान का आदमी हो, तो उसके नाम चिट्ठी लिख दू। उसने यह भी लिखा था कि वह फला गाड़ी से दिल्ली जाएगी। उसका छोटा बेटा अभी क्वार्टर में ही है। मरी बडी कृपा होगी, यदि मैं उस बच्चे को स्टेशन तक पहुचा दू।

इस चिट्ठी का जवाब तो मैंने नहीं दिया, मगर उसके बेटे को स्टेशन तक पहुचाने की हिम्मत मैंने जरूर की। अब सर्दी का मौसम आ गया था और शाम पडते ही अन्धेरा छा जाता था। गाडी रात के ग्यारह बजे अम्बाला स्टेशन पर पहुचती थी।

रात के ६ बजे के करीव मैं उसके घर की तरफ गया। क्वार्टर का दरवाज़ा खुला था, मगर अन्दर गहरा अन्धेरा था। मैं ठिठक गया। मगर फिर जी कड़ा करके अन्दर कदम रखा और दियासलाई जलाई। एक कोने में खाट पर बैठा उसका छोटा लडका ठिठुर रहा था, जैसे भिखमंगे बच्चे वारिश के दिनो में सिकुडे पड़े होते हैं। मां अपनी बीमार वेटी को लेकर चली गई थी और उसे यहां अकेला छोड गई थी। औरत के चले जाने पर विजली भी काट दी गई थी। पिछले दो सप्ताहो मे इस अभागे वालक की सुध किसी ने नही ली थी। वच्चे ने मुझे पहचान लिया और कांपता हुआ वह उठ खडा हुआ। मैंने दियासलाई की मदद से उसका सामान इकट्ठा किया—एक दरी, आलमारी में दो-एक वर्तन और आलमारी के निचले खाने मे उस औरत की हरे रंग की फाइल। वस, यही सामान था। जिस किसी तरह मैंने सामान वाधा, खाट को वही छोडा और हरी फाइल को चादर में लपेट स्टेशन पहुचा।

स्टेशन पहुंच कर मैंने वच्चे को एक वेंच पर विठा दिया और खुद लौटने की तैयारी करने लगा, क्योकि गाडी आने मे अभी देर थी। मगर वच्चे की दशा देखकर मेरे कदम न उठ सके। मैंने उसे कुछ खाने को ले दिया, जिस पर वह इस तरह झपटा, जैसे कुत्ता सूखी हड्डी पर झपटता है। मैं उसके पास ही वेंच पर वैठ गया और उसकी पीठ सहलाने लगा।

धीरे-धीरे मेरे मन में कौतूहल जागा। देखू तो, इस वोझिल फाइल में क्या है। गाडी आने में अभी तक देर थी, सो समय काटने को मैंने उसकी फाइल खोली। वर्षो पहले की चिट्ठियां वहां पर अटकी पडी थी। चिट्ठिया क्या थी, अर्जियां थी। कही चेतावनी, कहीं शिकायतें। देशनिकाले का नोटिस भी वहा लगा था। एक याचना-भरी दरख्वास्त वेटी को अस्पताल में दाखिल कराने के वारे में भी थी। चिट्ठिया पढ़ता-पढता, मैं दस-वारह वर्ष पहले की चिट्ठियां उलटने लगा। अव जगह-जगह पर नए-नए नाम मेरी नज़रो से गुज़रने लगे चम्पा, सावित्री, वीरावाली, वेदपाल! मेरे जी में यह जानने की उत्सुकता पैदा हुई कि ये सव कौन है और कहां है? मगर उस छोटे वच्चे से वर्षो पहले की वातें पूछना वेकार था।

गाडी आई। एक डिब्बे के दरवाज़े पर खड़ी वह लम्बे कद की औरत हाथ हिला-हिला कर मुझे बुला रही थी। उसने मुझे पहले ही देख लिया था। मैंने आगे बढ़ कर जल्दी से लड़का उसके हवाले कर दिया। बेटा मां की टांगों के साथ चिपटकर फूट-फूटकर रोने लगा। मा ने क्षण-भर उसकी पीठ थपथपाई, फिर उसे उठाकर ऊपर वाली सीट पर बिठा दिया और मुझसे अपना सामान लेने लगी। सब चीज़ें देकर फाइल उसके हवाले करते हुए मुझसे न रहा गया। मैंने पूछ ही लिया—

"सावित्री, वीरावाली, चम्पा, वेदपाल— ये सब कौन हैं? कहां हैं?"

उसने एकटक मेरे मुंह की तरफ देखा और फिर एक अनूठे ढंग से कहा, जैसे वह मुझसे नहीं, बल्कि अपने-आप से बातें कर रही हो—

"मेरे सात बच्चे थे, वीरजी! पांच को तो मैं खा चुकी हूं, मगर इस सबसे छोटे को तो मैं आंच नहीं आने दूंगी। मैं बर्तन मांज लूंगी, मगर इसे छाती से लगाए रखूंगी!"

यह सब कहती-कहती वह सीट की ओर लौट गई और बड़ी देर तक अपने बेटे का मुंह चूमती रही। मेरी आंखें, जो गाडी के अन्दर उसकी बीमार बेटी को खोज रही थी, अब उस औरत के चेहरे को देखने लगी। थोड़ी देर बाद आंखें पोंछती हुई वह वापस आई और उसी स्वगत अन्दाज़ से, अत्यन्त व्याकुल स्वर में, बोली—"ओह, इसकी भी नाक फूलती है। मैं कहां जाऊं? हे मेरे परमात्मा!"

मगर उसी समय गाडी ने दूसरी सीटी दी और वह औरत अकेली एक वीरान शहर से दूसरे वीरान शहर की ओर चल दी।

बेबसी का ज्ञान

भैरव प्रसाद गुप्त

रोज की तरह उस दिन सुबह, अपने सात साल के लडके का हाथ पकडे, मैं गांव के बाहर बाग में टहलने निकल गया।

पिछली रात खूब वर्षा हुई थी। पत्थर भी गिरे थे। इसलिए हवा बहुत तेज़ और ठंडी थी। बाग की ज़मीन रात के गिरे पत्तों, डालो और टहनियों से भर गई थी। पेड ऐसे उजड़े-से लग रहे थे, जैसे उनकी सारी खूबसूरती ही लुट गई हो। कही किसी चिड़िया का भी पता न था। जो बाग सुबह पंछियो के सुहाने चहचहो से सगीत-मय हो उठता था, वह आज ऐसा वीरान और सुनसान पडा था कि उसे देख कर डर-सा लगता था।

मैं लडके का हाथ एक ओर खींचता हुआ दूसरी ओर मुड़ना ही चाहता था कि एकाएक बाग की ओर से ज़ोर-ज़ोर की टें-टें की आवाज़ आई।

लड़के ने उधर मुडकर कहा—"पिताजी, कोई तोता रो रहा है!"

सचमुच तोते की उस टें-टें मे रोने का स्वर इतना साफ़ था कि वह छोटा लड़का भी उसे आसानी से समझ गया। आदमी के रोने में जो दर्द होता है, उससे भी अधिक उस तोते की टें-टें में दर्द भरा था।

"पिताजी, चलिए, देखें, वह कहां पड़ा है।"—लड़के ने यह कहकर मेरा हाथ बाग की ओर खींचा।

टें-टें की आवाज़ और भी ज़ोर पकड़ती जा रही थी। उस आवाज़ को लक्ष्य करके ही हम उस दिशा की ओर बढ़े। एकाएक लड़के ने चिल्ला कर कहा—"पिताजी, वह देखिए—उस पेड़ की जड़ में।"

मैंने देखा, तोता चित पड़ा पंख फड़फड़ा रहा था और टें-टें करके चीख रहा था। उस हालत में उसे देख कर मन दुःख और दर्द से भर गया। लड़का उसे पकड़ने दौड़ पड़ा।

चिड़ियों को न-जाने क्यों, बच्चे बहुत चाहते हैं। मेरा लड़का भी इसी भाव से उसे पकड़ने गया या कुछ और सोच कर, यह मैं उस समय नहीं समझ सका—इसीलिए मैंने उसे रोका भी नहीं।

तोता बुरी तरह घायल था। लड़के को अपनी ओर लपकते देखकर बड़ी ही बेचैनी और बेबसी से उसने उसकी ओर देखा, फिर टें-टें करके चीखते हुए उड़ने के कई असफल जतन किए; पर ज़रा भी इधर-से-उधर न हो सका। लड़के ने उसे पकड़ लिया, तो वह और भी ज़ोर से चीख उठा, जैसे उसके प्राण ही निकल रहे हों। उसकी वह चीख इतनी दर्द-भरी थी कि मैंने अपने कानों पर हाथ रख लिए।

लड़के ने उसके खून से लथपथ डैने को मेरी ओर करते हुए कहा—"पिताजी, इसके दोनों डैने टूट गए हैं। हम घर ले जाकर इसकी दवा करेंगे। यह अच्छा हो जाएगा न?"

पन्द्रह दिन पहले वह खुद अपना हाथ तोड़ चुका था। दवा से उसका हाथ अच्छा हो गया था। शायद यही बात उस समय उसके दिमाग में थी। यों भी, उसका यह विचार मुझे अच्छा लगा। मैं इन्कार न कर सका।

वह उसके शरीर पर धीरे-धीरे हाथ सहलाने लगा, तो थोड़ी देर में उसका चीखना-चिल्लाना बन्द हो गया। उसने पास ही के गड्ढे से हाथ में पानी लेकर उसकी चोंच में बूंद-बूंद टपकाया और उसके पंखों का खून भी धीरे-धीरे धो डाला।

(२)

मैंने दवा मंगा दी। लड़का बड़ी मुस्तैदी से तोते की सेवा और देखभाल करने लगा।

तीन महीने में, धीरे-धीरे, उसके डैनो के घाव अच्छे हो गए। पर अब भी वह उड़ न सकता था। लड़के ने कहा—"अब अच्छा हो गया। खाए-पिएगा, तो पंखो में ताकत आ जाएगी। तब तो वह जरूर उड़ सकेगा।"

मैंने कहा—"खिलाओ-पिलाओ। शायद तुम्हारा खयाल ठीक हो।"

थोड़े ही दिनों में तोता काफी मोटा हो गया— नए-नए पर भी उसके निकल आए। पर वह उड न सकता था— उसके एक डैने की हड्डी बिल्कुल कमज़ोर हो गई थी।

बिल्ली से उसे सुरक्षित रखने के लिए एक पिंजड़ा बनवा दिया गया। पहले उसे खांची में ढंक कर ही रखते थे, ताकि दवा लगाने और खिलाने-पिलाने में सुविधा रहे।

एक दिन सुबह जब हम टहलने चले, तो लड़के ने कहा—"आज मैं तोते को भी सैर कराने ले चलूंगा।"

मेरे मन में एक शंका उठ खड़ी हुई। मैंने कहा—"नही।"

इस पर उसने पूछा—"क्यों ?"

मैंने कहा—"जब तुम्हारा हाथ टूटा था, तो चारपाई पर पड़े-पड़े सहन में लडकों को खेलते-कूदते देख कर तुम्हारे मन में क्या होता था ?"

लड़का मेरी बात शायद समझ न सका, इसलिए जिद में आकर बोला—"नही पिताजी, हम तो जरूर ले चलेंगे ! यह भी क्या मेरी तरह कोई लडका है !"

मैंने फिर उसे मना न किया। भोले-भाले पंछी भोले-भाले लड़कों की ही तरह होते है, यह बात मैं उसे कैसे समझाता ? फिर सोचा, शायद उसी की बात ठीक हो।

बाग में एक बेर के पेड़ पर तोतो का एक झुण्ड किलकारियां भरता बेर कुतर रहा था। उनकी किलकारियां सुन कर पिंजड़े के तोते ने आखें उठा-गिरा कर ऊपर-नीचे देखना शुरू किया। उसकी नज़र बेर के पेड पर पड़ती थी कि वह ज़ोर से अपने पंख फड़फड़ाने लगा और चीखने लगा। तोतो ने उसकी आवाज़ सुनी, तो वे भी चीखने लगे।

मैंने कहा—"बेटा, पिंजड़ा खोल दे। यह चीखना मुझसे नहीं सहा जाता!"

लड़के को मालूम था कि उसका तोता उड़ नहीं सकता। इसीलिए शायद उसकी बेबसी का खेल देखने के लिए उसने पिंजड़ा खोल दिया। तोता आंधी की तरह पिंजड़े से बेर के पेड़ की ओर उड़ा, पर दूसरे ही क्षण तने से टकरा कर चीखता हुआ ज़मीन पर गिर पड़ा। पेड़ के तोते उसकी वह आवाज़ सुन कर फुर्र से उड़ गए और वह तोता आसमान की ओर देखता हुआ ऐसे चीख पड़ा, जैसे कड़ी पीड़ा से छुटकारा पाने के लिए आदमी मुक्ति की याचना करता है।

लड़का उसे पकड़ने दौड़ा, तो वह चीखता हुआ ही एक झाड़ी में घुस गया।

लड़का झाड़ी की ओर बढ़ा, तो मैंने उसे रोकते हुए कहा—"छोड़ दो अब उसे। उसकी यह चीख मुझसे नहीं सुनी जाती! अब शायद उसकी यह चीख मरते दम तक बन्द न होगी।"

लड़का कुछ समझ रहा था, ऐसा कैसे कहूं; फिर भी, मेरी बात मान-कर वह सिर लटकाए लौट आया।

उस दिन वह बहुत उदास रहा। बार-बार उस तोते के बारे में मुझसे पूछता रहा। मैंने कहा—"मैं यह समझता था, बेटा—इसीलिए तुमसे कहा था कि उसे बाहर न ले जाओ।"

लड़का चुप रहा और जैसे उसे समझाने के लिए मैं कहता चला गया—"जब तक वह घर में था, अपनी आसमान की दुनिया, अपनी आज़ादी, अपना उड़ना भूला हुआ था। उस समय शायद उसे अपनी बेबसी का भी ज्ञान नहीं था। पर जैसे ही उसने आज़ाद भाइयों को देखा, उसे अपनी वे सब बातें याद आ गईं। एक बार उसने फिर अपनी उस ज़िन्दगी में जाने की कोशिश की। पर डैनों की बेबसी ने वैसा न करने दिया। उसे अब अपनी बेबसी का ज्ञान हो गया है। अब उस बेबसी की ज़िन्दगी से छुटकारा पाना उसके बस की बात नहीं—वह मर जाना ही बेहतर समझता है। अब वह ज़िन्दा नहीं रखा जा सकता, बेटे!"

दूसरे दिन हम टहलने गए, तो देखा, वह तोता झाड़ी के किनारे मरा पड़ा था।

गुर

मन्मथनाथ गुप्त

मई के प्रारम्भ में ही हरीश को जाने क्या सूझा, विस्तरा और सूटकेस लेकर नैनीताल पहुंच गया। अभी तक वहां सभी होटल खाली थे, इसलिए उसे जगह मिलने में कोई दिक्कत नही हुई। होटल वालो के चेहरो पर अभी तक गुस्ताखी का वह पुचाड़ा नही फिरा था, जो होटलो के भर जाने के वाद स्वाभाविक हो जाता है। हरीश के पास भी काफी समय था और होटल का मालिक सरजूप्रसाद तो निठल्ला था ही।

दोनो अक्सर वातचीत करते थे। हरीश दिल्ली से आया था, इसलिए वह अपने को सभी विषयों का ज्ञाता मानता था। सरजूप्रसाद भी उसके दावे को एक हद तक मानता था। हरीश कहता भी अच्छी वातें था। एक दिन वोला—"टूरिज्म-टूरिज्म कहते है, पर करते क्या खाक है? किसी को यात्रियो को आकृष्ट करने का गुर नही आता। जो लोग टूरिस्ट विभाग में वैठे है, वे तो किसी के सगे होगे, इसलिए उन्हे कोई फिक्र नही। पर जो यात्री विज्ञापनवाजी में फसकर आ पडा, उसकी तो मौत है।"

सरजूप्रसाद मन-ही-मन हिसाव लगा रहा था कि इस समय कितना मुनाफा हो रहा है, इसलिए उसने अन्यमनस्क ढंग से कहा—"अभी हम लोग पिछडे हुए है। जव हम सभी मामलो मे पिछड़े हुए है, तो इस काम में पिछडे रहना कोई आश्चर्य की वात तो नहीं है।"

हरीश विगडकर वोला—"यही शिथिलता तो सारी वुराइयो की जड है। मुझे तो यहा इस झील के सिवा कोई आकर्षण नहीं मालूम होता। मै तो

दो हफ्ते की छुट्टी लेकर आया हू, पर चार दिन मे ही तबीयत ऊबने लगी है।"

सरजूप्रसाद बोला—"चाइना पीक जाइए, स्नो पीक जाइए, नाव चलाइए, फ्लैट पर घूमिए, घोडे की सवारी कीजिए। दिल लग ही जाएगा।"

इसके बाद समतल क्षेत्रो में एकाएक गर्मी तेजी से पडने लगी और बेशुमार यात्री आने लगे। अब सरजूप्रसाद का कही पता नही लगता था यानी रहता तो वह काउण्टर पर ही था, पर कोई-न-कोई ग्राहक उसके सामने घिघियाता होता था कि उसे जगह मिल जाए। हरीश से कभी चलते-फिरते आते-जाते सलाम-दुआ हो जाती थी, बस।

हरीश की छुट्टिया खत्म हो रही थी। उसे ८,६०० फुट पर स्थित चाइना पीक बहुत पसन्द आया था, इसलिए वह आज फिर वहा जाने की तैयारी कर रहा था। 'शेडीग्रोव' रेस्टोरेन्ट में चाय पीकर जाने का कार्यक्रम था। वह चाय पीता जाता था और रेस्टोरेन्ट में बैठे हुए दूसरे लोगो को ताकता जाता था। यो ही, कोई खास मतलब नही था। फिर भी, जब उसने चाय की हर चुस्की के साथ इधर-उधर देखा, तो उसे यह सन्देह हुआ कि एक युवती उसे ध्यान से देख रही है। हा, वह बराबर उसे देख रही थी। हरीश ने टाई कडी कर ली और चुस्ती से चाय की चुस्की लेने लगा। वह जान-बूझकर दूसरी तरफ देखता रहा, पर जब फिर उधर दृष्टि दौडाई, तो भी वह महिला उसकी तरफ देख रही थी।

उस युवती के साथ एक युवक भी था, जो सम्भवत उसका पति था। हरीश ने सोचा—यह अजीब बात है कि सुन्दरियो के पति कुछ कुरूप से होते है। इस युवक में भी इस नियम का व्यतिक्रम नही हुआ।

हरीश बिना कारण कुछ दुःखी हो गया, पर कार्यक्रम तो बना ही हुआ था, इसलिए वह बिल चुकाकर नीचे घोडो के अड्डे पर पहुचा।

अभी वह घोडा चुन भी नही पाया था कि वही जोडी घोडो के अड्डे पर पहुची। उस युवती ने आगे बढकर हरीश से कहा—"माफ कीजिएगा, क्या आप चाइना पीक जा रहे है?"

हरीश बोला—"हा, और आप लोग?"

"हम लोग भी वहीं जा रहे हैं। चलिए, अच्छा हुआ—साथ रहेगा। आप तो इसके पहले भी गए होंगे . . . हम तो पहली बार आए हैं।"

हरीश ने कहा—"रास्ता बहुत सीधा है। यहां तो कोई वैसा टेढ़ा रास्ता नहीं है, जैसा कश्मीर में होता है।"

"तो क्या आप कश्मीर भी गए हैं?"

हरीश नम्रतापूर्वक झेंप के साथ बोला—"जी हां, यहां तो बस यही शौक है—हर साल हिमालय की गोद में कहीं-न-कहीं जाना। बड़ी शान्ति मिलती है।"

तब तक युवती का पति एक घोड़े पर सवार हो चुका था। उसने आवाज़ दी—"पूर्णिमा! लो, जल्दी करो। अब धूप बढ़ रही है।"

पूर्णिमा के सामने घोड़ा आ गया। वह उस पर सवार हो गई। हरीश भी अपने घोड़े पर सवार हो गया। पूर्णिमा ने हरीश को अपने पति से परिचित कराते हुए कहा—"तुम तो घबड़ा रहे थे कि जाने कैसी जगह होगी; पर यह महोदय पहले भी चाइना पीक जा चुके हैं।"

सूखी हंसी के साथ दोनों का परिचय हुआ। मालम हुआ कि पूर्णिमा के पति का नाम यादवचन्द्र है।

तीनों साथ-साथ बाज़ार के अन्दर से होते हुए चाइना पीक की तरफ चले। बाज़ार के अन्दर पहुचकर पूर्णिमा बोली—"ऊपर चाय-वाय तो मिल जाएगी? कुछ दिक्कत तो न होगी?"

हरीश बोला—"हां, पर वहा पानी नहीं है, इसलिए चाय छः आने प्याली मिलती है। खाने की चीज कोई खास नहीं मिलती है। हां, वह चाय वाला पकौड़ियां बनाता है, जिसे वह मनमाने दाम पर बेचता है।"

यह कहकर हरीश एक दूकान के सामने रुका और उसने एक पैकेट बिस्कुट, मक्खन तथा कुछ अन्य चीज़ें लीं।

पूर्णिमा का इशारा पाकर यादवचन्द्र भी सामान लेने के लिए उतर रहा था कि हरीश ने अत्यन्त आग्रह के साथ उसे रोका, बोला—"अरे, क्या मैं इतनी चीज़ें केवल अपने लिए ले रहा हूं? आप लोगों का साथ हुआ, तो कुछ तो सत्कार करना चाहिए।"

पूर्णिमा बोली—"यह बात तो दोतरफ़ा है।"

पर हरीश के अनुरोध पर और कुछ नही लिया गया। हरीश बोला—"अभी तो उधर भी खर्च होगा। आप घबडाते क्यो है?"

ऊपर चढते समय मालूम हुआ कि यादवचन्द्र का घोड़ा कुछ कमजोर है, इसलिए पूर्णिमा और हरीश बार-बार आगे निकल जाते और जब वे अधिक आगे निकल जाते, तो रुककर यादवचद्र की प्रतीक्षा करते।

उस दिन का वह भ्रमण बहुत आनन्दपूर्ण रहा। अलग होते समय यह तय हुआ कि बाकी द्रष्टव्य स्थान भी साथ-साथ देखे जाए।

घनिष्टता बढी और हरीश ने दोनो को शनिवार के दिन अपने होटल में खाने पर बुलाया। सरजूप्रसाद से विशेष रूप से कह दिया गया था। जब अतिथि आए, तो स्वय सरजूप्रसाद देखरेख के लिए मौजूद था। सब खाने बहुत बढिया बने थे और अतिथि बहुत खुश होकर गए।

हरीश का जी इतना लग गया कि उसने अपने छुट्टी बढवा ली और नित्य सैर-सपाटा तथा खाना-पीना एक साथ होने लगा। न हरीश अब सरजू के पास समय काटने जाता और न सरजू के पास ही हरीश के लिए समय था।

आज भीमताल और नौकुचिया ताल का कार्यक्रम था। हरीश अभी उठकर तैयार ही हो रहा था कि इतने मे सरजू के साथ पूर्णिमा आई। सरजू कमरा दिखा कर चला गया। पूर्णिमा के लिए चाय आई और वह चाय पीने लगी। आज वह कुछ दुःखी थी। हरीश को यह तो पहले ही पता लग चुका था कि वह अपने पति के उजड्ड व्यवहारो से दुःखी रहती है। इसके अलावा दो दिन हुए, पूर्णिमा ने हरीश से कहा भी था—"वह बाज वक्त बडी नक्खीचूनी कर जाते है। यहा आए है, तो दिल खोल कर पैसे खर्च करने चाहिए, पर वे तो एक-एक पैसे को दात से पकडते है।"

इधर-उधर की बातो के बाद पूर्णिमा बोली—"मैने बताया नही था, उनसे मै बहुत दुःखी रहती हू। आज तो हद हो गई, बोले कि आप से आप के साथ हम लोगो का कोई सम्बन्ध नही। जब मैने उनका वादा पूछा तो वे आप पर बरस पड़े और बोले कि वह तो नाम मालूम होता है। तब मैने कहा कि कम-से-कम आज तो चलना ही है क्योंकि वायदा कर चुके है, पर वे बोले—'नही, किसी भी हालत में नही। तुम या तो उनके साथ जाओ या मेरे साथ रहो।'

"मैं बोली—'वह युग चला गया, जब मनुष्य गुफाओं में रहते थे। उन दिनों स्त्री पति के हाथ की कठपुतली और उसकी बांदी हुआ करती थी। अब वह युग लद गया है। तुम तो सामने ही रहते हो, फिर क्या बात है?'

"पर वे नहीं माने। तब मैंने अपना सामान दूसरे होटल में रख लिया। अब समस्या है कि क्या करूं? होटल वाला पेशगी मांगता है, इसलिए मैं अपनी सोने की चूड़ियां आपके पास रखकर रुपए मांगने आई हूं।"

हरीश बोला—"चूड़ियां आप रहने दीजिए, पर यह तो बड़ी अजीब परिस्थिति है। कहिए, तो मैं उनको जाकर समझाऊं।"

पूर्णिमा बोली—"वे तो उसी समय लखनऊ रवाना हो गए। मैं अकेली रह गई।"

हरीश ने कुछ सोचा, फिर उसने रुपए निकालकर दे दिए।

बोला—"अभी दो सौ लीजिए। कल बैंक से और निकालूंगा, तो दूंगा।"

उस दिन दोनों पूर्व-निश्चय के अनुसार भीमताल गए, नौकुचिया ताल में दोनों बड़ी देर तक नाव पर सैर करते रहे। बस तो छूट चुकी थी—बड़ी मुश्किल से वे रात नौ बजे नैनीताल वापस लौटे।

सैर-सपाटे का कार्यक्रम पूर्ववत् जारी रहा, पर इधर सिनेमा देखना ज्यादा बढ़ गया। यहां अधिक सिनेमाघर तो थे नहीं, इसलिए सिनेमा एक हद तक ही देखे जा सकते थे। अब पूर्णिमा अक्सर सरजूप्रसाद के होटल में ही खाना खाती थी, पर वह हमेशा रात के नौ बजते ही चली जाती थी।

हरीश को नैनीताल में छ: हफ्ते से ऊपर हो चुके थे और इस बीच काफी खर्च हो चुका था। इसमें सात सौ की वह रकम भी शामिल थी, जो पूर्णिमा को उधार के रूप में दिए गए थे। सरजू ने भी सात सौ से ऊपर खींच लिया था।

अब हरीश कई बार पूर्णिमा से कहता था—"यह सैर-सपाटा तो चार दिनों का है। भविष्य का कार्यक्रम क्या रहेगा?"

पर पूर्णिमा कोई स्पष्ट उत्तर नहीं देती थी।

एक शनिवार को सैर-सपाटे के बाद पूर्णिमा बोली—"कल मैं नहीं आ सकूंगी। कुछ जरूरी चिट्ठी-पत्री लिखनी है।"

"मैं आ जाऊं ?"—कह कर वह हसता हुआ बोला—'अरे, मुझे तो अभी तक यह भी पता नही कि तुम किस होटल में रहती हो।"

पर पूर्णिमा ने इस तरह मना कर दिया कि हरीश ने फिर उसके यहा जाने की बात नही उठाई। वह समझ गया कि पूर्णिमा किसी सस्ती जगह पर ठहरी होगी, इसीलिए वह उसे वहां ले जाना नही चाहती।

अगले दिन रविवार था, पर पूर्णिमा के आने की सम्भावना न होने के कारण हरीश देर तक बिस्तरे से ही नही उठा। सरजूप्रसाद उनके कमरे के सामने से राउण्ड करता हुआ जा रहा था, अभी तक हरीश को बिस्तरे पर पड़ा देखकर बोला—'आज कोई प्रोग्राम नही है क्या ?"

हरीश ने सक्षिप्त रूप मे कहा—"नही।"

सरजूप्रसाद ने कहा—"मालूम होता है, कोई साथी नही है।"

हरीश ने खिन्न होकर कहा—"हा।"

"तो आज लाट साहब के—क्या कहते है, राज्यपाल के—भवन की सैर कर आइए। वह बहुत सुन्दर स्थान है और रविवार को ही जनता के लिए खुलता भी है।"

हरीश बोला—"अरे, उनमें क्या होगा! यहा राष्ट्रपति-भवन और प्रधान मन्त्री के भवन को छाने पडे है।"

इस पर सरजूप्रसाद चुनौती के स्वर में बोला—"अजी, आपका राष्ट्रपति-भवन तो इसके सामने कुछ नही ह। यहा के भवन में इतनी जमीन है कि उसमें पाच राष्ट्रपति-भवन समाए। फिर प्राकृतिक सौन्दर्य, जगल, बाग-बगीचा और इसके अलावा बहुत भारी गाफकोर्म है।"

सरजू ने गुलमर्ग का गाफकोर्स नही देखा था, इसलिए उसने साव-धानी के साथ कहा—"राष्ट्रपति-भवन और सारे राज्यो के राजभवन एक तरफ और नैनीताल का राजभवन एक तरफ।"

हरीश बोला—'इधर यात्रियो को ठहरने की जगह नही मिलती और एक-दो व्यक्तियो के लिए इतना बडा स्थान रखा गया है! क्या यही लोक-तन्त्र है ?"

सरजूप्रसाद जल्दी में था, बोला—"जाकर देख तो आइए, फिर बहस करिएगा।"

हरीश जल्दी से तैयार होकर चला और घूमते-घामते राजभवन पहुच गया। सचमुच जगह बहुत सुन्दर थी। प्रकृति का बहुत मनोरम रूप दिखाई पड़ता था। एक स्थान से दूर तक पर्वतमालाएं दिखलाई पडती थी, मैदान मे जो घास लगी थी, वह सचमुच गुलमर्ग की याद दिलाती थी। इसके अन्दर कितनी ही सड़कें और पगडडियां थी। किसी ने कहा—"इन सडकों की कुल लम्वाई साठ मील है।"

हरीश के मन में बहुत-सी बातें आ रही थी—विशेषकर यह बात आ रही थी कि इसमें यात्रियो के लिए एक-एक कमरे वाले दो हज़ार घर बनाने पर भी इसका सौन्दर्य कायम रह सकता है।

बहुत बडी सख्या में लोग पिकनिक करने आए थे, पर हरीश अपने विचारो में डूवा हुआ था। एकाएक उसे वहां पूर्णिमा की झलक मिल गई। वह चौकन्ना हो गया। क्या यह भ्रम था? नही, यह पूर्णिमा ही थी और उसके साथ वही यादवचन्द्र। अरे! वह तो कहती थी कि यादवचन्द्र महीना-भर पहले ही चला गया।

हरीश किसी अदृश्य शक्ति के द्वारा परिचालित होकर पूर्णिमा की ओर वढा। पति-पत्नी हस-हंस कर बातें कर रहे थे, यह देखकर वह बहुत आगे नही बढ़ा। वह लौटने ही वाला था कि पूर्णिमा ने उसे देख लिया। एक वार उसका चेहरा फक हो गया, पर तुरन्त ही वह सम्भल गई और उसने अपने पति से निगाह बचा कर हरीश को इशारा कर दिया कि उधर झुरमट में खड़े रहो। हरीश ने आज्ञा का पालन किया। थोड़ी देर में पूर्णिमा आई और बोली— "मैंने कल बताया नही था कि वे कल फिर आ गए। होटल में तो उनसे बात हो नहीं सकती थी, क्योकि वह बात-बात मे चिल्ला पड़ते हैं, इसलिए आज यहा चली आई। मैं अब उनसे बिल्कुल छुटकारा किए लेती हूं। बहुत माफी-वाफी माग रहे हैं, पर मैं किसी तरह नही मानने की। मैं जाती हूं।"

कहकर वह मुस्कराती हुई चली गई। हरीश को सारी बात कुछ अजीव मालूम हुई; पर जब उसने गहराई से सोचा, तो उसे मालूम हुआ कि ऐसी सुन्दरी पत्नी के लिए लखनऊ से लौट आना और माफी मांगना

कोई बड़ी बात नही है। फिर भी, उसके मन ने कहा कि पूर्णिमा को कल ही उसे सारी बात बता देनी चाहिए थी।

हरीश का मन फिर राजभवन में नही लगा और वह नीचे अपने होटल में पहुचा। सध्या-समय वह पडा-पडा कुछ पढ रहा था, पर उसके कान दरवाज़े की ओर लगे थे।

जैसी उसे आशा थी, वैसा ही हुआ। पूर्णिमा आई और बोली—'वह तो बडा दुष्ट निकला। कहता है कि अगर मै उसके साथ न चलू तो वह हम लोगो के विरुद्ध व्यभिचार का मुकदमा चलाएगा। इस पर मैंने कहा कि देखो, हम लोगो में प्रेम तो रहा नही—अब जो चाहते हो, सो बताओ। तब उसने बहुत घुमा-फिरा कर यह कहा कि एक हजार रुपया लेकर वह हम लोगो का पिंड छोडने को तयार है। किसी तरह मना-मुना कर मैंने इसे पाच सौ करा दिया। अब आप 'ना' न करिए। इन चूडियों को ले लीजिए और पाच सौ रुपए दे दीजिए, ताकि उनसे हमेशा के लिए पिंड छूटे। जिन्दा रहूगी, तो ऐसी चूडिया जाने कितनी मिलेंगी।"

हरीश ने चूड़िया लेने से इन्कार किया, बोला—"मेरे पास इतने रुपए तो नही होगे।"

पूर्णिमा बोली—"तीन सौ तक हो, तो भी उसे वापस भेज सकती हू—न होगा उसी को दो-तीन चूडिया दे दूगी। ऐसे समय चूडिया काम न आए तो कब आएगी।"

हरीश बोला—"यह तो ब्लैकमेल है। और एक बार उसके सामने घुटना टेका, तो फिर वह हर छठे महीने आकर आप से रुपए वसूल करेगा।"

"अजी, तब तक मै कोई काम खोज लूगी, आप सहायता तो करेंगे ही। अभी तो यह बला टले।"

अन्त में, हरीश ने दो सौ पच्चीस रुपए जो उसके पास थे दे दिए और पूर्णिमा अपना छुटकारा कराने के लिए चली गई। यह सब कुछ बडा हरीश को अखरा, पर अन्तिम खर्च के रूप में उसे एक तरह की तसल्ली भी हुई।

अगले दिन पूर्णिमा निश्चित समय पर नही आई—यहा तक कि दिन-भर नही आई। क्या वह दुष्ट फिर भी नही माना ? कही वह उसे जबर्दस्ती तो नही ल गया। वह आदमी सब-कुछ कर सकता है। देखने मे बिल्कुल कोई दागी मालूम होता है। होटल का भी तो पता नही कि जाकर कुछ पता लगाएं।

दो-तीन दिन तक हरीश होटल से वाहर नही निकला, तो सरजू उधर से निकलते हुए बोला—"भई, क्या बात है ? अब जी नहीं लगता ?

हरीश बोला—"कुछ ऐसी ही बात है।"

सरजूप्रसाद कुर्सी पर बैठ गया, बोला—"क्या आप उस लड़की के पीछे इतने परेशान है ?"

पहले तो हरीश माना नही, फिर उसने सारी बात बता दी और कहा "होटल का पता होता, तो कुछ पता लगता।"

तब सरजूप्रसाद ठहाका मारकर हंसा, बोला—"अरे! आप इसी बात पर परेशान हो रहे हैं ? न पति-पत्नी में कोई झगड़ा हुआ है और न वह आपको चाहती ही है। यह सब तो मिली भगत थी। वे हर साल यहा आते है और किसी-न-किसी को फांस कर सारा खर्च निकालते हैं। ऊपर स कुछ ले भी जाते हों, तो कोई ताज्जुब नही।"

हरीश उठकर खड़ा हो गया, बोला—"आप को यह सब पता था ?"

"पता नही था तो क्या ? ऐसे ही होटल चला रहा हूं।

"मुझे क्यो नही बताया ?"

"आपको बताता, तो आप दो हफ्ते में ही चल देते। यहा आठ हफ्ते हो गए। आप कहते थे कि यहांवालों को टूरिज्म का गुर नही आता। देख लिया गुर ?"

हरीश दंग रह गया। उसन उसी समय बिस्तरा बांधा और दिल्ली की ओर चल पड़ा।

अपरिचित

मोहन राकेश

कुहरे की वजह से खिडकियो के शीशे धुधले पड गए थे। गाडी चालीस मील की रफ्तार से सुनसान अधेरे को चीरती चली जा रही थी। खिडकी से सिर सटाकर भी बाहर कुछ दिखाई नही देता था। फिर भी, मै आख गडा कर देखने का प्रयत्न कर रहा था। कभी किसी पेड की हल्की-गहरी रेखा ही पास मे गुजर जाती, तो कुछ देख लेने का सन्तोष होता। मन को उलझाए रखने के लिए इतना ही काफी था। पलको में जरा नीद नही थी। गाडी को न-जाने कितनी देर बाद जाकर कही ठहरना था। जब और कुछ दिखाई नही देता था, तो अपना प्रतिबिम्ब तो कम-से-कम देखा ही जा सकता था। अपने प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त और भी कई प्रतिबिम्ब थे। ऊपर की बर्थ पर सोए हुए व्यक्ति का प्रतिबिम्ब अजब बेबसी के साथ हिल रहा था। नीचे सामने की बर्थ पर बैठी हुई महिला का प्रतिबिम्ब बहुत उदास था। उसकी भारी-भारी पलकें पल-भर के लिए ऊपर उठती और फिर नीचे झुक जाती। आकृतियो के अतिरिक्त कई बार नई-नई ध्वनिया ध्यान बंटा देती थी, जिनसे भान होता था कि गाडी पुल पर से जा रही है या मकानो की पक्ति के आगे से गुजर रही है। बीच-बीच में सहसा इजन की सीटी चीख जाती, जिससे अधेरा और एकान्त और भी गहरे प्रतीत होने लगते।

मैने खिडकी से सिर हटाकर घडी की ओर देखा। साढे ग्यारह बजे थे। सामने बैठी हुई महिला की आखें बहुत सुनसान थी।

बीच-बीच में उनमें एक लहर-सी आ जाती और विलीन हो जाती। वह जैसे आखों से देख नही रही थी, सोच रही थी। उसकी बच्ची, जो फर के कम्बल में लिपट कर सोई थी, ज़रा-ज़रा कुनमुनाने लगी। उसकी गुलाबी ऊन की टोपी सिर से उतर गई थी। उसने दो-एक बार पैर पटके, अपनी बंधी हुई मुट्ठिया ऊपर उठाईं और सहसा रोने लगी। महिला की सुनसान आखें उमड़ आईं। उसने बच्ची के सिर पर टोपी ठीक कर दी और उसे कम्बल-समेत उठा कर छाती से लगा लिया।

मगर इससे बच्ची का रोना बन्द नही हुआ। उसने बच्ची को हिला-कर और दुलारकर चुप कराना चाहा। फिर भी वह रोती ही रही, तो उसने कम्बल थोड़ा ऊपर उठा कर उसके मुह म दूध दे दिया और उसे अपने साथ सटा लिया।

८

मैंने फिर खिड़की के साथ सिर टिका लिया। दूर तक बत्तियो की कतार नज़र आ रही थी। शायद वह कोई आबादी थी, या केवल सड़क ही थी। गाड़ी बहुत तेज़ चल रही थी और इंजन पास होने के कारण कुहरे के साथ धुआं भी खिड़की के शीशो पर जमता जा रहा था। आबादी या सड़क, जो भी थी, अब धीरे-धीरे पीछे छूटती जा रही थी। शीशे में दिखाई देते हुए प्रतिबिम्ब पहले से गहरे हो गए थे। महिला की आखें बन्द थी और ऊपर लेटे हुए व्यक्ति की बाह ज़ोर-ज़ोर से हिल रही थी। शीशे पर मेरी सास के फैलने से प्रतिबिम्ब और धुधले हुए जा रहे थे, यहां तक कि क बार सब आकृतिया अदृश्य हो गईं। मैंने जेब से रुमाल निकालकर शीशे को पोछ दिया।

महिला ने आखें खोल ली थी और एकटक सामने की ओर देख रही थी। उसके होठो पर हल्की-सी मधुर रेखा फैली थी, जो ठीक मुस्कराहट नही थी। मुस्कराहट से बहुत कम व्यक्त उस रेखा में गम्भीरता भी थी और अवसाद भी—वह जैसे अनायास उभर आई किसी स्मृति की रेखा-मात्र थी। उसके माथे पर भी हल्की-सी सिकुड़न पड गई थी।

बच्ची जल्दी ही दूध से हट गई। उसने सिर उठा कर अपना बिना दात का मुह खोल दिया और किलकारी मारती हुई मां की छाती पर

मुट्ठियो से प्रहार करने लगी। दूसरी ओर से आती हुई एक गाड़ी तेजी से गुजरी, तो वह ज़रा सहम गई, मगर गाड़ी के गुज़रते ही और भी मुह खोलकर किलकारी मारने लगी। बच्ची का चेहरा गदराया हुआ था और उसकी टोपी के नीचे से भूरे रंग के हल्के-हल्के बाल नज़र आ रहे थे। उसकी नाक ज़रा छोटी थी, पर आखें मा की ही तरह गहरी और फैली हुई थी। मा के गाल और कपड़े नोचकर उसकी आखें मेरी ओर घूम गईं और वह बाहें हवा में झटकती हुई मेरी ओर देखकर किलकारिया मारने लगी।

महिला की पुतलिया उठी और उसकी उदास आखे पल-भर मेरी आखो से मिली रही। मुझे क्षण-भर के लिए लगा कि मैं एक ऐसे क्षितिज को देख रहा हू, जिसमें गोधूलि के सभी हल्के-गहरे रंग झिलमिला रहे है और जिसका दृश्य-पट क्षण के हर शतांश में बदलता जा रहा है।

बच्ची मेरी ओर देखकर बहुत हाथ पटक रही थी, इसलिए मैंने बच्ची की ओर हाथ बढ़ा दिए और कहा—"आ बेटे, आ……"

मेरे हाथ पास आ जाने पर बच्ची के हाथो का हिलना बन्द हो गया और उसके होंठ रुआंसे-से हो आए।

महिला ने बच्चो के होंठो को अपने होंठो से छुआ और कहा—"जा बिट्टू, जाएगी?"

लेकिन बिट्टू के होंठ और रुआंसे-से हो गए और वह मा के साथ सट गई।

"पराए आदमी से डरती है।"—मैंने खिसियाने स्वर में कहा और हाथ हटा लिए।

महिला के होंठ भिच गए और माथे की खाल में खिचाव सा आ गया। उसकी आखें जैसे अतीत में चली गईं। फिर सहसा वे लौट आईं और वह बोली—"नहीं, डरती नहीं। इसे [illegible] में आदत नहीं है। यह आज तक या तो मेरे हाथो में रही है, या नौकरानी के हाथो में……" और वह उसके सिर पर झुक गई। बच्ची उसके साथ सटकर आखें झपकने लगी। महिला उसे हिलाती हुई थपकिया देने लगी। बच्ची ने आखें

मूद ली । महिला उसकी ओर देखती हुई, जैसे चूमने के लिए होठ वढ़ाए हुए, उसे थपकिया देती रही । फिर उसने अनायास मुस्करा कर उसे चूम लिया।

"वडी अच्छी है, मेरी विट्टू ! झट से सो जाती है।" उसने जैसे अपने से कहा और मेरी ओर देखा। उसकी आखों मे उल्लास भर रहा था।

"कितनी वड़ी है यह वच्ची ?"—मैंने पूछा—"सात-आठ महीने की होगी......"

"महीना-भर वाद पूरे एक साल की हो जाएगी।"—वह वोली—"पर यह देखने मे अभी छोटी लगती है। लगती है न ?"

मैंने आंखो से उसकी वात का समर्थन किया। उसके चेहरे से अजव विश्वास और भोलापन झलकता था । मैंने उचक कर सोई हुई वच्ची के गाल को ज़रा सहला दिया । महिला का चेहरा और वत्सल हो गया।

"लगता है, आपको वच्चो से वहुत प्यार है।"—वह वोली—"आपके कितने वच्चे है ?"

मेरी आखें उसके चेहरे से हट गईं। विजली की वत्ती के पास एक क़ीड़ा उड रहा था।

"मेरे ?"—मैंने मुस्कराने की कोशिश करते हुए कहा—"अभी तो कोई नही, मगर.. ."

"मतलव व्याह हुआ है, अभी वच्चे-अच्चे नही हुए।"—वह मुस्कराई—"आप मर्द लोग तो वच्चो से वचे ही रहना चाहते हैं।......है न ?"

मैंने होठ सिकोड लिए और कहा—"नहीं, यह वात नही......"

"हमारे वे तो वच्चों को छूते भी नही।"—वह वोली—"कभी दस मिनट के लिए भी उठाना पड जाए, तो झल्ला पड़ते है। अव तो, खैर, वे इस मुसीवत से छूट कर वाहर ही चले गए है......" और सहसा उसकी आंखें छलछला आईं। रुलाई की वजह से उसके होठ विल्कुल उसकी वच्ची-जैसे हो गए। फिर उसके होंठो पर मुस्कराहट आ गई, जैसा अक्सर सोए हुए वच्चों के साथ होता है । उसने आंखें झपककर उन्हें

: और बच्ची को अच्छी तरह कम्बल में लपेट कर
मूद ली । महिल दिया ।
वढाए हुए, उसे ', : पर लेटा हुआ व्यक्ति खर्राटे भरने लगा था। एक
उसे चूम लिया । रले को हुआ, पर सहसा हड़वड़ा कर सम्भल गया।
"वडी अच्छ: वह और ज़ोर से खर्राटे भरने लगा।
अपने से कहा अं न-जाने सफ़र में कैसे इतनी गहरी नीद आ जाती है!"—
रहा था। झे दो-दो रातें सफ़र करना हो, तो भी नही सो पाती।
"कितनी आदत होती है। क्यों?"
होगी......" त की ही वात है।"—मैंने कहा—"कुछ लोग वहुत निश्चिन्त
"महीन्- है और कुछ होते है कि ."
"पर यह दे चिन्ता के जी ही नही सकते!" और, वह ज़रा हंस दी।
मैंने का स्वर भी वच्चो-जैसा ही था। उसके दांत वहुत छोटे-
अजव ि चमकीले थे। मैंने भी उसकी हंसी में योग दिया।
वच्ची के वहुत खराव आदत है।"—वह वोली—"मै हमेशा वात-वेवात
हो गया। रहती हू। कभी-कभी तो मुझे लगता है कि मै सोच-सोच कर
".हो जाऊंगी। वे मुझसे कहते है कि मुझे लोगों से मिलना-
कित चाहिए, हसना-वोलना चाहिए, मगर उनके सामने मैं ऐसी
,न हो जाती हू कि क्या कहूं! वैसे अकेले में भी मैं ज्यादा नही
र्.ती, लेकिन उनके सामने तो ऐसी चुप्पी छा जाती है, जैसे मुह में
;वान ही न हो।...अव देखिए, यहा कैसे लतर-लतर वोल रही हूं!"
और, वह मुस्कराई। उसके चेहरे पर हल्की-सी सकोच की रेखा भी
आ गई।

"रास्ता काटने के लिए वात करना ज़रूरी हो जाता है ." मैंने
कहा—"खास तौर पर, जव नींद न आ रही हो।"

उनकी आखें पल-भर फैली रहीं। फिर वह गर्दन ज़रा झुका कर
वोली—"ज़िन्दगी कैसे काटी जा सकती है? ऐसे इन्सान में और एक पालतू
पशु में क्या फर्क है? मैं हज़ार चाहती हूं कि उन्हें खुश दिखाई दू
और उनके सामने कोई-न-कोई वात करती रहू, लेकिन मेरी सारी
कोशिश वेकार चली जाती है। फिर उन्हें गुस्सा हो आता है और मैं रो

देती हूं। उन्हें मेरा रोना बहुत बुरा लगता है।" कहते-कहते उनकी आंखों में दो बूंद आंसू झलक आए, जिन्हें उसने अपनी साड़ी के पल्ले से पोंछ दिया।

"मैं बहुत पागल हूं।"—वह फिर बोली—"वे जितना मुझे रोकते हैं, मैं उतना ही ज्यादा रोती हूं। दरअसल, वे मुझे समझ नहीं पाते। मुझे बात करना अच्छा नहीं लगता, फिर न-जाने क्यों, वे मुझे बात करने के लिए मजबूर करते हैं!" और फिर, माथे को हाथ से दबाए हुए वह बोली—"आप भी अपनी पत्नी से कभी जबर्दस्ती बात करने के लिए कहते हैं?"

मैंने पीछे टेक लगाकर कन्धे ज़रा सिकोड़े और हाथ बगलों में दबाए हुए, बत्ती के पास उड़ते हुए कीड़े को देखा। फिर मैंने सिर को ज़रा झटककर उनकी ओर देखा। वह उत्सुक आंखों से मेरी ओर देख रही थी।

"मैं?"—मैंने मुस्कराने की चेष्टा करते हुए कहा—"मुझे यह कहने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मैं तो पांच साल से यह चाहता रहा हूं कि वह ज़रा कम बातें किया करे। मैं समझता हूं कि कई बार इन्सान चुप रह कर ज्यादा बात कह सकता है। ज़बान से कही हुई बात में वह रस नहीं होता, जो आंख की चमक से, या होंठों के कम्पन से, या माथे की एक लकीर से कही हुई बात में होता है। मैं जब उसे यह समझाना चाहता हूं, तो वह मुझसे पहले विस्तारपूर्वक बता देती है कि ज्यादा बात करना इन्सान की निश्छलता का प्रमाण है, और यह भी कि मैं इतने वर्षों में अपने प्रति उसकी सद्भावना को समझ ही नहीं सका। वह दरअसल कालेज में लेक्चरर है, और उसे घर में भी लेक्चर देने की आदत है।'

"ओह!" वह थोड़ी देर तक दोनों हाथों में मुंह छिपाए रही, फिर बोली—"ऐसा क्यों होता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। मुझे दोनों से यही शिकायत है कि वे मेरी बात समझ नहीं पाते। मैं कई बार उनके बालों को छूकर अपनी उंगलियों से बात करना चाहती हूं, कई बार उनके घुटनों पर सिर रख कर [illegible] कुछ कहना चाहती हूं लेकिन उन्हें [illegible] ।

कहते है कि यह सब गुड़ियो का खेल है—उनकी पत्नी को जीता-जागता इन्सान होना चाहिए । और मै इन्सान बनने की बहुत कोशिश करती हूं, लेकिन बन नही पाती, कभी नही बन पाती। उन्हें मेरी कोई आदत अच्छी नही लगती । मेरा मन होता है कि चांदनी रात मे खेतों मे घूमूं, या नदी में पैर डालकर घटो बैठी रहूं; मगर वे कहते है कि ये सब 'आइडिल' मन की वृत्तिया है । उन्हें क्लब, संगीत-सभाए और डिनर-पार्टिया अच्छी लगती है । मै उनके साथ वहा जाती हूं, तो मेरा दम घुटने लगता है। मुझे वहा ज़रा-सी भी आत्मीयता प्रतीत नहीं होती। वे कहते है कि तू पिछले जन्म में मेढ़की थी, तभी तुझे क्लब में बैठने की बजाय खेतो में मेढको की आवाज़ें सुनना ज्यादा अच्छा लगता है। मै कहती हूं कि मै इस जन्म में भी मेढकी हूं। मुझे बरसात में भीगना बहुत अच्छा लगता है और भीगकर मेरा मन गुनगुनाने को होने लगता है, हालाकि मुझे गाना नही आता । मुझे क्लब में सिगरेट के धुए में घुटकर बैठे रहना अच्छा नही लगता। वहा मेरे प्राण गले को आने लगते है।"

उस थोड़े-से समय मे ही उसके चेहरे का उतार-चढाव मुझे परिचित लगने लगा था । उसकी बात सुनते हुए मेरे हृदय पर हल्की उदासी छाने लगी थी, हालाकि मै जानता था कि वह कोई भी बात मुझे लक्ष्य करके नही कह रही थी— वह अपने से बात करना चाह रही थी और मेरी उपस्थिति उसके लिए एक बहाना-मात्र थी। मेरी उदासी भी उसके लिए न होकर अपने लिए ही थी, क्योकि बात उससे करते हुए भी मै सोच अपने विषय में ही रहा था। मै पाच साल से मज़िल-दर-मज़िल विवाहित जीवन में से गुजरता आ रहा था, रोज़ यही सोचते हुए कि शायद आने वाला कल ज़िन्दगी के इस ढाचे को बदल दे। सतही तौर पर हर चीज़ ठीक थी, कही कुछ गलत नही था; मगर आन्तरिक तौर पर जीवन कितना सकुल और विषमता की रेखाओ मे भरा था! मैंने विवाह के शुरू के दिनो में ही जान लिया था कि नलिनी मुझसे विवाह करके सुखी नही हो सकती, क्योकि मै जीवन में उसकी कोई भी महत्वाकाक्षा पूरी करने में सहायक नही हो सकता। वह एक

भरा-पूरा घर चाहती थी, जिसकी वह शासिका हो और ऐसा सामाजिक जीवन चाहती थी, जिसमें उसे महत्व का दर्जा प्राप्त हो । वह अपने से स्वतन्त्र अपने पति के मानसिक जीवन की कल्पना नहीं करती थी। उसे मेरी भटकने की वृत्ति और साधारण का मोह मानसिक विकृतियां प्रतीत होती थी, जिन्हें वह अपने अधिक स्वस्थ जीवन-दर्शन के बल से दूर करना चाहती थी । उसने इस विश्वास के साथ जीवन आरम्भ किया था कि मेरी त्रुटियो की क्षति-पूर्ति करती हुई वह बहुत शीघ्र मुझे सामाजिक दृष्टि से एक सफल व्यक्ति बनने की दिशा में प्रेरित करेगी। उसकी दृष्टि में यह मेरे वशगत सस्कारो का दोष था, जो मैं इतना अन्तर्मुख रहता था और इधर-उधर मिल-जुल कर आगे बढने का प्रयत्न नही करता था । वह इस परिस्थिति को सुधारना चाहती थी, पर परिस्थिति सुधरने की बजाय और बिगडती ही गई । वह जो-कुछ चाहती थी, वह मैं नही कर पाता था और जो-कुछ मैं चाहता था, वह उससे नही होता था। हम दोनो में अक्सर बहस-मुबाहिसा हो जाता था और कई बार दीवारो से सिर टकराने की नौबत आ पहुंचती थी। परन्तु यह सब हो चुकने पर नलिनी बहुत जल्दी स्वस्थ हो जाती थी और उसे फिर मुझसे यह शिकायत होती थी कि मैं दो-दो दिन अपने को उन साधारण घटनाओ के प्रभाव से मुक्त क्यो नही कर पाता। परन्तु मैं दो-दो दिन तो क्या, कभी भी उन घटनाओ के प्रभाव से मुक्त नही होता था और रात को जब वह सो जाती थी, तो घटो तकिए में मुह छिपाकर कराहता रहता था। नलिनी आपसी झगडे को उतना अस्वाभाविक नही समझती थी जितना मेरे रात-भर जागने को। इसके लिए वह मुझे 'नर्व' टानिक देने की सलाह दिया करती थी । विवाह के पहले दो वर्ष इसी तरह कटे थे और उसके बाद हम लोग अलग-अलग जगह काम करने लगे थे। हालांकि स्थिति ज्यो-की-त्यो वर्तमान थी और जब कभी हम इकट्ठे होते वही पुरानी जिन्दगी लौट आती थी—फिर भी, नलिनी का यह विश्वास [illegible] नही हुआ था कि कभी-न-कभी मेरे सामाजिक सस्कारो का उद्धार [illegible] होगा और तब हम साथ रहकर सुखी दाम्पत्य जीवन व्यतीत कर सकेंगे।

"आप कुछ सोच रहे है ?"—उस महिला ने अपनी वच्ची के सिर पर हाय फेरते हुए पूछा।

मै सहसा सचेत हुआ और वोला—"हां, मै आपकी ही वात सोच रहा था। कुछ लोग होते है, जिनसे दिखावटी शिष्टाचार के सस्कार आसानी से नहीं ओढ़े जाते। आप भी शायद उन्ही लोगो में से है।"

"मै नही जानती।"—वह आंखे मूदकर वोली—"मगर मैं इतना जानती हू कि मै वहुत-से परिचित लोगो के वीच अपने को अपरिचित, वेगाना और विजातीय अनुभव करती हूं। मुझे लगता है कि मुझमे ही कुछ कमी है। मै इतनी वड़ी होकर भी वह कुछ नही जान-समझ पाई, जो लोग छुटपन में ही सीख जाते है। दीशी का कहना है कि मै सामाजिक दृष्टि से विल्कुल 'मिसफिट' हू।"

"आप भी यही समझती है ?"—मैंने पूछा।

"कभी समझती हू, कभी नही समझती।"—वह वोली—"एक खास तरह के समाज में जरूर अपने को 'मिसफिट' अनुभव करती हू। परन्तु...कुछ ऐसे लोग भी है, जिनके वीच जाकर मुझे वहुत अच्छा लगता है। व्याह से पहले मै दो-एक वार कालेज की पार्टी के साथ पहाड़ो पर घूमने के लिए गई थी। वहां सव लोगो को मुझसे यही शिकायत रहती थी कि जहा वैठ जाती हू, वही की हो रहती हूं। मुझे पहाड़ी वच्चे वहुत अच्छे लगते थे। मै उनके घर के लोगो से भी वहुत जल्दी दोस्ती कर लेती थी। एक पहाड़ी परिवार की मुझे आज याद आती है। उस परिवार के वच्चे मुझसे इतना घुल-मिल गए थे कि मै वड़ी मुश्किल से उन्हें छोड़ कर उनके घर से चल पाई। मै दो घण्टे उन लोगों के पास रही थी। उन दो घण्टों में मैंने उन्हें नहलाया-धुलाया भी और उनके साथ खेलती भी रही। वहुत ही अच्छे वच्चे थे वे। हाय, उनके चेहरे इतने लाल थे कि क्या कहू ? मैंने उनकी मां से कहा कि वह अपने छोटे लड़के किशनू को मेरे साथ भेज दे। वह हंस कर वोली कि तुम सभी को ले जाओ, यहा कौन इनके लिए तोशे रखे है। यहा तो दो साल में इनकी हड्डिया निकल आएंगी—वहां खा-पीकर अच्छे तो रहेंगे। मुझे उसकी वात सुन कर रुलाई आने को हो गई। मै अकेली होती, तो

शायद कई दिनों के लिए उन लोगो के पास रह जाती। ऐसे लोगो में जाकर मुझे बहुत अच्छा लगता है। अब तो आपको भी लग रहा होगा कि कितनी अजीब हू मैं। वे कहा करते है कि मुझे किसी अच्छे मनोविद से अपना विश्लेषण कराना चाहिए, नहीं तो किसी दिन मैं पागल होकर पहाड़ो पर भटकती फिरूंगी… …”

“यह तो अपने-अपने निर्माण की बात है……” मैंने कहा—“मुझे खुद आदिम संस्कारों के लोगो के बीच रहना बहुत अच्छा लगता है। मैं आज तक एक जगह घर बनाकर नही रह सकता और न ही आशा है कि कभी रह सकूंगा। मुझे अपनी जिन्दगी की जो रात सबसे ज्यादा याद आती है, वह रात मैंने पहाड़ी गूजरों की एक बस्ती में बिताई थी। उस रात उस बस्ती में एक ब्याह था, इसलिए सारी रात वे लोग शराब पीते रहे और नाचते रहे। मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, जब मुझे बाद में बताया गया कि वे गूजर दस-दस रुपए के लिए इन्सान का खून भी कर देते थे।”

“आपको सचमुच इस तरह की जिन्दगी अच्छी लगती है?”—उसने कुछ आश्चर्य और अविश्वास के साथ पूछा।

“आपको शायद खुशी हो रही है कि पागल होने की उम्मीदवार अकेली आप ही नहीं है!”—मैंने मुस्कराकर कहा। वह भी मुस्कराई। उसकी आंखें सहसा भावनापूर्ण हो उठीं। उस एक क्षण में मुझे उन आंखों में न-जाने कितना-कुछ दिखाई दिया—करुणा, क्षोभ, ममता, आर्द्रता, ग्लानि, भय, असमंजस और सौहार्द! उसके होठ कुछ कहने के लिए कांपे, लेकिन कांप कर ही रह गए। मैं भी चुपचाप उसे देखता रहा। कुछ क्षणों के लिए मुझे महसूस हुआ कि मेरा मस्तिष्क बिल्कुल खाली है और मुझे पता नहीं कि मैं क्या कह रहा था और आगे क्या कहना चाहता था। उसकी आंखों में सहसा सूनापन भरने लगा और आधे क्षण में वह इतना बढ़ गया कि मैंने उसकी ओर से आंखें हटा लीं।

बत्ती के आसपास उड़ता हुआ कीड़ा उसके साथ सटकर झुलस गया था।

बच्ची नींद में मुस्करा रही थी।

खिड़की के शीशे पर इतनी धुंध जमा हो गई थी कि उसमें अपना चेहरा भी नहीं दिखाई देता था।

गाड़ी की रफ्तार धीमी हो रही थी। कोई स्टेशन आ रहा था। दो-एक बत्तियां तेज़ी से निकल गईं, तो मैंने खिड़की का शीशा थोड़ा उठा दिया। बाहर से आती हुई बर्फ़ानी हवा के स्पर्श ने जैसे स्नायुओं को सहला दिया। गाड़ी एक बहुत नीचे प्लेटफार्म के बराबर खड़ी हो रही थी।

"यहां थोड़ा पानी मिल जाएगा?"

मैंने चौंककर देखा कि वह अपनी टोकरी में से कांच का गिलास निकाल कर अनिश्चित भाव से अपने हाथ में लिए हुए है। उसके चेहरे की रेखाएं पहले से गहरी हो रही थीं।

"आपको पानी पीने के लिए चाहिए?"—मैंने पूछा।

"हां, कुल्ला करूंगी या पिऊंगी। न-जाने क्यों, होंठ कुछ अधिक चिपक-से रहे हैं। बाहर इतनी ठंड है, फिर भी......"

"मैं देखता हूं। यदि मिल जाए, तो......"

कहकर मैंने गिलास उसके हाथ से ले लिया और जल्दी से प्लेटफार्म पर उतर गया। न-जाने कैसा सुनसान स्टेशन था कि कहीं भी कोई आकृति दिखाई नहीं दे रही थी। प्लेटफार्म पर आते ही हवा के झोंकों से हाथ-पैर सुन्न होने लगे। मैंने कोट के कालर खड़े कर लिए। प्लेटफार्म के जंगले के बाहर से फैलकर ऊपर आए हुए दो-एक वृक्ष हवा में सरसरा रहे थे। इंजन के भाप छोड़ने से लम्बी शू-शू की आवाज़ सुनाई दे रही थी। शायद वहां गाड़ी सिगनल न मिलने की वजह से ही रुक गई थी।

दूर, कई डिब्बे पीछे, मुझे एक नल दिखाई दिया और मैं तेज़ी से उसकी ओर चला। ईंटों के प्लेटफार्म पर अपने जूते की एड़ियों का शब्द मुझे बहुत अपरिचित-सा लग रहा था। मैंने चलते-चलते गाड़ी की ओर देखा। किसी खिड़की से कोई चेहरा नहीं झांक रहा था। मैं नल के पास जा गिलास में पानी भरने लगा, तभी एक हल्की-सी सीटी देकर गाड़ी एक झटके के साथ चल पड़ी। मैं भरा

लेकर मै आपके चार्ट में चढ़ा भी चुकी हू । अव तो रात के दस वजे ही लूंगी।"

पर विश्वनाथ जैसे अपनी पराजय स्वीकार करने को तैयार न था। उसने एक दौड़ती हुई-सी दृष्टि हाल में इधर-उधर डाली और फिर नर्स की ओर देखकर कहा—"यह इतनी भीड़-भाड और इतना शोर-गुल मुझे विल्कुल पसन्द नहीं।"

"वह तो आपके चेहरे और उत्तेजना से साफ जाहिर है।"—नर्स ने कुछ सधे हुए स्वर में कहा—"पर विश्वनाथ वावू, यह आपका घर नही, अस्पताल है। और, चार वजे से छः वजे तक तो रोगियो से मिलने आने वालो का समय ही है। इस समय भीड-भाड़ और शोर-गुल तो होगा ही । आप जरा देर और धीरज रखिए। छः वजते ही सव लोग चले जाएंगे। फिर आप शौक से आराम कीजिएगा। तव पूरी शाति रहेगी । अभी आप ज़रा लेट जाएं । उत्तेजित होना आपके लिए अच्छा नही।"

पेश्तर इसके कि विश्वनाथ कुछ कहे, नर्स अपना वाक्य पूरा होते ही, फिर वाहर वरामदे में चली गई—विश्वनाथ को उस हाल मे समुद्र की तरह उमड़ती भीड़ और शोर-गुल के उतार-चढाव में डूवते-उतराने को अकेला छोड़कर । विश्वनाथ चाहता था कि उससे अनावश्यक शिकायत और झगड़ने के वहाने ही दो घड़ी वातें तो करे, पर नर्स जैसे उसकी वीमारी के ऊपरी चिह्नो के सिवा और कुछ देखना और समझना चाहती ही नही थी। उसके लिए विश्वनाथ रोज अस्पताल में आने और ठीक होकर चले जाने वाले रोगियो में से एक सामान्य इकाई-भर था, जव कि विश्वनाथ उसे अपने सूने और विना पतवार के जीवन का—कुछ दिनो के लिए ही सही—एक डांड वनाना चाहता था, पर अपने इस भाव को नर्स पर प्रकट करने का साहस वह कभी भी नही जुटा पाया था।

नर्स के वाहर चले जाने के वाद जैसे हाल का शोर-गुल फिर शत-गुणा हो उसके कानो को फाडने लगा था। उसने वेसब्री से इधर-उधर दृष्टि घुमाई। पास ही के वेड पर लेटा रोगी एक फीकी मुस्करा-

हट के साथ अपने पास बैठी स्त्री का बाया हाथ अपने हाथ मे लेकर कह रहा था—"तुम्हारे आने से जैसे मै जी उठता हू। नही तो, दिन-भर यह हाल मुर्दे-से निर्जीव पडे या कराहते रोगियो का एक कब्रिस्तान-सा बना रहता है। अब देखो, चारो तरफ कैसी हसी-खुशी छायी रहती है। काश! हसी-खुशी की यह बस्ती चौबीसो घण्टे रह सकती।"

स्त्री ने सन्तरे की एक फाक छील कर रोगी के मुह मे देते हुए कहा—"बस, दो-चार दिनो की ही बात और है। उसके बाद तो तुम्हे यहा से छुट्टी मिल जाएगी और तब हमारी हसी-खुशी की दुनिया फिर चहक उठेगी।"

रोगी ने सतरे की फाक मुह मे लेकर मुह के पास आया स्त्री का दूसरा हाथ भी थाम लिया और गद्गद होकर कहा—"[illegible]!" उसके इस एक शब्द मे बच्चो का-सा आह्लाद और भोलापन झलक रहा था और इस उच्चारण के साथ ही जैसे अस्पताल से शीघ्र छुट्टी पाने की खुशी ने उसके मुखमण्डल को एक तरह के [illegible] से [illegible] दिया था।

यह देखकर विश्वनाथ की छाती मे एक तीर-सा लगा और उसने अपनी नजर उन दोनो की तरफ से घुमा ली। इस बार उसकी दृष्टि अपने पास के दूसरी तरफ के बेड पर पडी। एक रोगी अपने बच्चे को छाती पर बिठाए पास बैठी स्त्री से कह रहा था—"तेरे जाने का मन है, तो जा। पर इस खिलौने को मेरे पास ही छोड जा। मै इसी से अपना दिल बहला लिया करूगा।" और कहते-कहते उसने उस जीवित खिलौने के दोनो गाल चूमकर उसे अपनी छाती से चिपटा लिया।

विश्वनाथ के शरीर मे एक सिहरन-सी हुई और उसने उस ओर से भी दृष्टि घुमा ली। उसके मन मे आया कि [illegible] नर्स को पुकारे, पर [illegible] तथा उसकी निगाह मे छोटा बनने के [illegible]। उसने पास [illegible] दबा था, [illegible]।

पर दूसरे ही क्षण उसने महसूस किया कि उसके भीतर जो वड़वानल धधक रहा है, वह क्या इतने-से पानी से ही बुझ सकेगा ? यह सोचते-सोचते सहसा वह पसीने-पसीने हो उठा।

इसी समय उसने सामने के एक रोगी को उगली से अपनी ओर शारा करते हुए देखा। इसका कारण वह समझे, इससे पहले ही एक प्रौढा ने हाथ से खीचकर सिर पर का साडी का पल्ला कुछ नीचा किया और उसकी ओर वढी। उसके विश्वनाथ के वेड तक पहुचते-पहुचते विश्वनाथ ने जैसे अपनी गड़ी-दवी स्मृतियो में से उसका परिचय खोज निकाला। यद्यपि वियोग और अभाव के १२ वर्षो ने उसके शरीर और चेहरे मे काफी अन्तर ला दिया था, पर उसे न पहचानना विश्वनाथ के लिए सम्भव न था। आश्चर्य और प्रसन्नता में से क्या अधिक हो रहा था, अभी विश्वनाथ इसका निर्णय भी नही कर पाया था कि आगतुका ने उसके निकट आ धीरे से पास की कुर्सी पर वैठते हुए विना किसी सम्वोधन या औपचारिकता के क्षीण स्वर में कहा—"आपरेशन की खवर तो मुझे देनी थी। ऐसी भी भला क्या नाराजगी है ?"

विश्वनाथ की मनोदशा ठीक वैसी ही थी, जैसी कि अचानक पाव फिसल जाने वाले किसी व्यक्ति की होती है। उसने अपने-आपको सम्भालते हुए, लड़खडाते स्वर में कहा—"अरे रामप्यारी, तुम यहा कैसे आई ?" और फिर, जैसे अपने-आपको सतर्क कर, सहज-स्वाभाविक स्वर में वोला—"तुम कोई डाक्टर हो क्या, जो तुम्हें खवर देता ?"

"डाक्टर न सही, पर आपरेशन के वाद तुम्हारी सेवा-सुश्रूपा करने की तो ज़रूरत है न।"

"नही, कोई खास ज़रूरत नही। जिनकी सेवा-सुश्रूपा करने वाला कोई नही, क्या वे ज़िन्दा नही रहते ?"

"मै तुमसे वहस करने नही आई हू। तुम कितने भी नाराज़ क्यो न होओ, पर एक हिन्दू पत्नी का जो जन्मसिद्ध अधिकार है, उससे तुम मझे कभी भी वचित नही कर सकते।"

रामप्यारी के स्वर की दृढ़ता देखकर विश्वनाथ को लगा कि उनके अपने स्वर में जो अनावश्यक रुखाई आ गई थी, उसने उनके मन पर चोट की है। किन्तु विश्वनाथ जैसे अपने अन्तर के तूफ़ान को बाहर आने देकर उसके सामने ज़लील बनना या हारना नहीं चाहता था। एक क्षण वह आधे घूंघट के नीचे झुकी रामप्यारी की आंखों और मुरझाए चेहरे की ओर देखता रहा। सौन्दर्य की तड़क-भड़क वाली हाट वहां नहीं थी, पर जीवन अपनी सारी विवशता के बावजूद जैसे चिरप्रतीक्षा और विवशता का एक मूक निवेदन बना वहां बैठा था।

रामप्यारी ने हाथ की पोटली गोद में रखकर उसे खोला और उसमें से एक सन्तरा निकालकर छीलते हुए कहा—"तुम्हारे लिए कुछ फल लेती आई हूं।"

"नहीं, मुझे नहीं चाहिए तुम्हारे फल!"—उत्तेजित स्वर में विश्वनाथ ने कहा और फिर जैसे अपने वार की प्रतिक्रिया देखने को कनखियों से रामप्यारी के चेहरे की ओर ताका। [illegible] झोंके की तरह एक फीकी मुस्कान उस पर फैल गई। [illegible] में रामप्यारी ने कहा—"डाक्टर चाहे जो कहें पर रोगी को फल अवश्य खाने चाहिए, उतना तो जितना पचाया भी जा सकता है।" और यह कहते-कहते उसने सन्तरे [illegible] एक फांक इस तरह विश्वनाथ के मुंह में रख दी मानो किसी बच्चे को जबर्दस्ती पथ्य दिया जा रहा हो। [illegible] आग्रह करना पड़ा और न विश्वनाथ ने ही कोई आपत्ति की। [illegible] छील-छील कर सन्तरे की फांकें उसके मुंह में देती गई [illegible]। कोई कुछ न बोला।

थोड़ी देर बाद घंटी बजी। [illegible] की तैयारी करने लगे। रामप्यारी ने गोद से [illegible] दिया और उसे पास वाली तिपाई पर [illegible]—'इसमें कुछ फल और हैं। [illegible] बजे फिर आऊंगी।' और, [illegible]

किए वह द्वार की ओर बढ गई । पीछे से विश्वनाथ उसे आंखे फाडे देखता रहा ।

(२)

दूसरे दिन से रोज चार बजते ही रामप्यारी फल, आदि लेकर आती और छः बजे तक विश्वनाथ के पास बैठी रहती। आने से पहले विश्वनाथ बड़ी व्यग्रता से उसकी प्रतीक्षा करता । पर जब वह आ जाती, तो न-जाने कौन-सा दबा अहम् उसको बेकाबू-सा कर देता और वह फिर रूखा तथा उदास हो जाता । रामप्यारी ने इसे लक्ष्य न किया हो, ऐसी बात नही, पर जब तक वह अस्पताल में था, उसने जैसे बिना बहस या झगड़ा किए ही उसकी सेवा करने तथा उसे खुश रखने को अपने-आपसे एक समझौता-सा कर लिया था। पिछले १२ वर्षो से वह जिन दुखो, कष्टो, अपमान और जिल्लत को सहती आई थी, उससे वह बड़ी कठोर हो गई थी । विश्वनाथ की धृष्टता और कृतघ्नता पर कभी-कभी उसे क्रोध भी आ जाता, पर वह उसे पी जाती, यद्यपि यह उसके लिए जहर के घूट से कम तीखा और कष्टकर नही होता था।

एक दिन विश्वनाथ ने पूछा—"लेकिन आखिर तुम यहां आई कैसे ? मेरे आपरेशन की खबर तुम्हें किसने दी ?"

"हमारे एक रिश्तेदार यहां आए थे। उन्होने ही लौटकर बताया । मैं तो सुनकर बडी घबरा गई । पिताजी तो आने ही नही देना चाहते थे, पर मेरा मन नही माना । सो, उन्हे बिना बतलाए ही चली आई।"

विश्वनाथ ने देखा कि यह कहने के बाद भी रामप्यारी के चेहरे पर किसी गर्व की भावना नही थी। उसने कातर स्वर में कहा—"तुम सुन्दर नही, पढी-लिखी नही, इसलिए तुम्हे अपने घर से निकाल कर मैंने तुम्हारे साथ ही अन्याय नही किया, रामप्यारी, अपने प्रति भी बहुत बडा अनाचार किया। क्या तुम मुझे क्षमा कर सकोगी ? काश, हमारे जीवन के वे खोए हुए १२ वर्ष फिर लौट सकते !"

रामप्यारी कुछ न बोल सकी। उसका गला और आँखें भर आईं। विश्वनाथ ने व्यग्रता से उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा—"कुछ तो कहो, रामप्यारी! जवानी में हर आदमी अन्धा होता है। वह मानवी नहीं, एक खूबसूरत परी चाहता है। यह भूल मुझसे भी हुई। पर मैं इसकी काफी सजा पा चुका हूं। तुमने तो कष्टों और मुश्किलों के मुझसे भी बड़े पहाड़ झेले हैं। बोलो, मुझे क्षमा किया न?"

"पर इतनी हड़बड़ी किस बात की है? अच्छे तो हो लो।" —रामप्यारी ने आँखें नीची किए ही कहा। फिर आँचल से गाल पोंछकर बोली—"मैं सुन्दर या पढ़ी-लिखी न सही पर मेरा भी तो मान-सम्मान है—मेरा भी तो स्वाभिमान है।"

"कौन कहता है, नहीं है! पर क्षमा उससे भी बड़ी चीज है। और जीवन तो उससे भी बड़ा है—उसका अनादर न करो। क्या हम उन पुरानी बातों को भूलकर फिर से नई जिन्दगी शुरू नहीं कर सकते?"

"कह नहीं सकती। लेकिन पहले तुम अच्छे तो हो जाओ।"—कहकर रामप्यारी ने बात टाल दी।

कुछ देर इधर-उधर की बातें करने के बाद वह अपने घर चली गई। उसके दूसरे दिन फिर तीसरे दिन, और फिर चौथे दिन—इस तरह कई दिनों तक विश्वनाथ ने क्षमा-याचना की [illegible] पर रामप्यारी ने कोई स्पष्ट जवाब नहीं दिया। [illegible] और और [illegible] विश्वनाथ [illegible]।

(३)

एक दिन जब रामप्यारी [illegible] विश्वनाथ अस्पताल के [illegible] पास वाली कुर्सी पर बैठा है। रामप्यारी [illegible] "आज मुझे छुट्टी मिल गयी है। [illegible]"

[illegible] विश्वनाथ [illegible] पर रामप्यारी [illegible] गी। [illegible] छुट्टी [illegible]

उल्टे उसके मन को एक धक्का-सा लगा कि अस्पताल के बहाने उसके सूने जीवन में चार दिन के लिए जो बहार लौट आई थी, वह सहसा फिर पतझड़ बनने जा रही है। उसे खामोश और सुन्न खड़ी देखकर विश्वनाथ की जैसे कुछ समझ में ही नहीं आया। उसने देखा कि रामप्यारी की आंखें सजल हो आई हैं। सहज भाव से उसने उसका हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचते हुए कहा—"क्यो, क्या तुम्हें मेरे अस्पताल से छुट्टी पाने की बात सुनकर खुशी नही हुई ?"

रामप्यारी ने मुंह दूसरी ओर फिरा कर आंखें पोछी और भर्राई हुई आवाज़ में कहा—"कैसी पागलपन की बातें करते हो ? तुम्हारे ठीक होने पर मुझे भला क्यो खुशी न होगी ?"

इसी समय नर्स ने आकर एक कागज विश्वनाथ की ओर बढ़ाते हुए कहा—"यह लीजिए आपकी रसीद। अब आप जा सकते है।"

"अच्छा, बहुत-बहुत धन्यवाद।"—रसीद लेते हुए विश्वनाथ ने कहा और कुर्सी पर से उठ, पास रखी एक बड़ी-सी पोटली हाथों मे लेकर, द्वार की ओर चल दिया। रामप्यारी उसके पीछे-पीछे हो ली।

नीचे आकर विश्वनाथ ने एक रिक्शा किया और उसके पायदान पर अपने हाथ मे ली हुई पोटली रखकर, पीछे मुड़कर रामप्यारी की ओर देखा और मुस्कराकर कहा—"चलो बैठो, देर क्यो करती हो ?"

एक प्रश्न-भरी दृष्टि से रामप्यारी ने उसकी ओर देखा। वह जैसे कुछ निर्णय नही कर पा रही थी। उसी समय विश्वनाथ ने आगे बढकर उसका हाथ पकड कर रिक्शा की ओर खींचते हुए कहा—"चलो भी, अपने रोगी को घर तक तो पहुंचा आओ।"

रामप्यारी के जैसे पाव उखड़ गए और बिना कोई प्रतिरोध किए वह रिक्शे में जा बैठी ! विश्वनाथ उसके पास ही आ बैठा और रिक्शा उसके घर की ओर चल पड़ा। रास्ते में दोनों में कोई बातचीत नही हुई। एक बार एक चौराहे पर रिक्शा के रुकने पर जब विश्वनाथ ने रामप्यारी के मुह की ओर देखा, तो उसकी आखों से आंसू बह रहे थे। पर इसका कारण पूछने की उत्सुकता को उसने दबा लिया और फिर सामने देखने लगा।

वह अपना भविष्य सफल और उज्ज्वल बना सकेगा। परन्तु उसने राष्ट्रीय भावना की पुकार सुनकर अपना सब-कुछ—तात्कालिक सुख, सफलता, भविष्य, बल्कि जीवन ही—न्यौछावर कर दिया। हम कई लोगो मे उतना साहस नही था। इसलिए हमने उसका आदर करके ही सन्तोष पाया। आदर करने वाले इन लोगो में 'कवियित्री' भी थी। उस समय वे थी प्रस्फुटित होते यौवन के उद्वेग मे, जब कि नि स्वार्थता और त्याग भी सीमाओ को तोडकर ही बहना चाहते है। उस समय उनकी भावनाएं कविता की वाणी का माध्यम पाकर जनश्रुत नही हो पाई थी और प्रतिक्रिया में प्रसिद्धि ने उन्हे आदर से ऊंचा नही उठा दिया था। परन्तु हृदय तो वही था– उद्वेग और भावना की अपरिमित शक्ति से भरा।

जैसे पतंगो को जलती दीपशिखा की ओर जाने के लिए कोई नहीं कहता और उस ओर जाने से रोक भी नही सकता, वैसे ही कवियित्री नेता के आदर्श से आकर्षित होकर उसके पथ का अनुसरण करने के लिए व्याकुल थी—कर्तव्य के पथ पर मृत्यु की खाई में भी उतने ही उत्साह से कूद जाने के लिए। परन्तु हुआ यह, कि नेता आगे निकल गया और कवियित्री साथ देने के लिए—उसका हाथ पकड़ने के लिए–बाह फैलाती-फैलाती पिछड़ गईं, ज़रा पिछड़ गई।

नेता राष्ट्रीय मुक्ति के लिए अपनी जान पर खेल कर विदेशी शासन पर चोट करने के प्रयत्न में गिरफ्तार हो गया। सभी जानते थे कि इस साहस का मूल्य नेता को फासी या आजन्म कारावास का दण्ड भोग कर देना होगा। इस घटना से हम सभी को चोट लगी; परन्तु विदेशी शासन के आतंक से—और इतना साहस न होने पर—मौन आदर और सहानुभूति के सिवा कर ही क्या सकते थे! कवियित्री के लिए यह आघात केवल राष्ट्रीय भावना की पीड़ा तक सीमित नही रहा। शायद व्यक्तिगत कुछ था ही नही। शायद सभी-कुछ व्यक्तिगत भी था।

विदेशी शासन के न्यायालय से नेता को आजन्म कारावास के दण्ड की आज्ञा हो चुकी थी। उसे काले पानी या द्वीपान्तरवास के लिए भेजे

साथ सम्भाल ली, जैसे तीन सौ मील से अधिक की यात्रा कर वे इसी उद्देश्य के लिए यहा आई थी।

नेता ने देखा और उसके शरीर में बिजली कौंध गई। बिजली की इस लपट से उसकी आंखो के सामने फैले काले भविष्य का आकाश फट गया। उसकी आंखो ने अपने सामने अंधकार का असीम व्यवधान स्वीकार कर लिया था। अंधकार के व्यवधान में किसी आशा या महत्वाकांक्षा की लौ या टिमटिमाहट की उम्मीद उसने नहीं की थी। परन्तु बिजली की इस निःशब्द तड़प से भविष्य का काला पाट फट गया। सामने भविष्य का काला समुद्र तो था, परन्तु उस समुद्र मे चामत्कारिक प्रकाश लिए प्रकाश-स्तम्भ भी था, आंचल के कोने में उसकी चरण-रज सम्भालती भावनामयी कुमारी के आकार मे। उसकी कल्पना ने साहस पाया। आजन्म कारावास की चौदह वर्ष की अवधि में वह मर नही जाएगा। जीवित रहने के लिए कारण उसके पास है।..... चौदह वर्ष बाद, जब वह श्वेत केश, विरूप चेहरा और निस्तेज आंखे लिए संसार मे लौटेगा, तब उसे अपना मार्ग पहचानने और ढूढ़ने मे कठिनाई नही होगी। कर्तव्य के पथ पर अपनाए दारिद्र्य और तप में भी स्नेह का प्रकाश उसके थके पावो को ठोकर से बचाता रहेगा— भावनामयी, प्रतिभामयी इस कुमारी का हाथ उसका हाथ थामे उसे ले चलेगा। कोसो दूर, समुद्र लांघकर, काला पानी पीकर जीवित रहते समय भव्य आशा उसे सान्त्वना देती रहेगी।

हमारे नगर मे नेता के चले जाने के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन के क्रांतिकारी ढंग की बजाय सविनय अवज्ञा आदि का प्रकट और सार्वजनिक ढंग ही अधिक सबल होता गया। कवियित्री क्रान्ति के मार्ग में त्याग की भावना का आदर करते हुए भी इसी माध्यम से राष्ट्रीय कर्तव्य को पूरा करने का प्रयत्न करती रही। और, जब क्रांति के मार्ग में अपने-आपको न्यौछावर कर देने के लिए तत्पर होकर भी वे एक बार अवसर से चूक गईं, तो फिर वैसा अवसर उतनी उत्कटता से आया भी नही। जब जीवन था, तो जीवन की मांगें और प्रवृत्तियां भी थी। कवियित्री कविता लिख कर जीवन को साधारण रूप से ही सार्थक बना सकने की चाह करने लगी।

इस वार मैंने देखा कि नेता के दृढ़ता के प्रतिविम्ब चेहरे पर सहसा पसीना आ गया—फिर सूर्य के सामने घना वादल आ जाने से पृथ्वी पर फैल जाने वाली छाया की तरह श्यामलता। इस छोटी-सी घटना या रुखाई के वक्के से स्वयं मुझे भयकर आघात लगा। जिस पर यह चोट पड़ी थी, उसकी अनभूति का अनुमान कर लेना आसान नहीं था।

चाय पार्टी में नेता एक प्याली चाय भी न ले सका। जान पड़ता था कि वह खराव सड़क पर तेज चलने वाली वस में खड़ा अपने पांव पर सम्भले रहने का यत्न कर रहा था। सभा में उसकी वाक्शक्ति शिथिल रही। नगर छोड़ कर चले जाने की व्यग्रता वह छिपा न सका।

कुछ ही दिन वाद सुना कि कवियित्री का विवाह अच्छी आर्थिक स्थिति, परन्तु सन्दिग्ध-सी ख्याति के एक व्यक्ति से होनेवाला है। कवियित्री को अपने विश्वास और आस्था पर भरोसा था। नगर में कवियित्री से सामना होने पर उन्हें किसी दूसरे ही ढंग में देखा। नेता के साथ वीती घटना के प्रसंग की चर्चा का कोई अवसर या उसमें किसी लाभ की आशा नहीं थी। जल्दी ही सुना कि विवाह हो गया। फिर, वहुत समय वीत जाने से पहले ही सुना कि विवाह से कवियित्री को सन्तोष की अपेक्षा पश्चात्ताप और संताप ही मिला। वे भावना के ज्वार में ठगी गई थीं, जैसे अपनी तैरने की शक्ति में अतिविश्वास से वाढ़ में कूद जाने वाला व्यक्ति ठगा जाता है।

कवियित्री ने अपने-आपको सम्भाला। वे समाज-सेवा में लग गई और अपने-आपको अपनी कविता में खो दिया।

कवियित्री ने अपने-आपको तो खो दिया, परन्तु संसार ने उनकी कविता पाई। कवियित्री की जीवन-शक्ति सब ओर से सिमट कर कविता में वेगवती हो उठी, जैसे पूरे प्रदेश से सिमटा वर्षा का जल एक मार्ग से जाते समय वेगवान हो जाता है। वे नगर का गौरव वन गई—दूर-दूर तक उनकी ख्याति फैल गई।

नेता तो झोंपड़ा फूंक कर ही राष्ट्रीय कार्य के मार्ग पर चला था। लौटने की तो कोई जगह या कोई वात थी नहीं। नगर में मानसिक आघात पाकर नगर ही से उसे विरक्ति हो गई थी। वह जिले के ग्रामों में

नेता ने वेदी की तीन सीढियो मे से पहली सीढी पर कदम रखा, और हाथो को जोडे हुए आखें उठाईं। कवियित्री हार लिए दो कदम आगे वढ आईं। आखें चार हुईं।

नेता का कृतज्ञता और विनय के उद्वेग से शिथिल और पसीजा हुआ चेहरा सहसा कठिन हो गया। आखें पथरा गईं। दूसरी सीढी पर कदम ठिठक गए। जुडे हुए हाथ कमर पर आ गए। चेहरे पर किंकर्तव्य-विमूढ़ता की मुद्रा। गले में आए उद्वेग को निगल नेता ने वेदी की ओर पीठ और जनता की ओर मुख कर लिया।

कवियित्री फैली वांहो पर आदर और श्रद्धा का भारी हार लिए दीपशिखा को भाति काप कर स्तव्ध रह गईं।

अपने-आपको सम्भालने के लिए नेता ज़रा खासा। सासो की स्तव्धता में उसका कापता-सा स्वर सुनाई दिया—"इस आडम्बर की क्या आवश्यकता है ? मैं आदर का भूखा नही हूं। यदि आप मेरा आदर और विश्वास करते हैं, तो अपना उत्तरदायित्व भी समझिए।"

नेता के पास और शब्द नही थे। उसने एक वार और प्रयत्न किया—"आप लोग क्षमा करे मुझे यही कहना है आपके आदर के लिए धन्यवाद।" नेता वेदी की ओर देखे विना ही लौट गया।

पडाल नेता की निरभिमानता, विनय और कर्मठता के प्रति आदर व्यक्त करने के लिए तालियो के शब्द और जय की पुकार से गूज उठा। कवियित्री माथे पर आया पसीना पोछना भूलकर होठ दवाए वेदी से नीचे उतर आई।

मैं समझ नही पा रहा था कि क्या करू ?

जव रह नही सका, तो दोपहर वाद नेता के डेरे पर गया था। एक वार इतना कहे विना तो मैं नही रह सकता था—"तुमने यह किया क्या ?"

मालूम हुआ कि नेता सिरदर्द मे चुप अकेले लेटे है। एक वार मिल लेना और भी आवश्यक हो गया। नेता के चेहरे पर सचमुच ही वेदना छाई थी। आखे मिलने पर आखो ने ही पूछा—"क्यो ?"

टूटा पुरजा

ए० रमेश चौधरी

जब मुनुस्वामी वापस न आया, तो उसकी पत्नी कोण्डालम्मा ने मुहल्ले में पांच-दस से कहा, लडकी को सड़क पर भेजा, किसी पडोसी को ट्राम-शेड के पास पूछ-ताछ के लिए रवाना किया। पर जब उसका कुछ पता न लगा, तो परिवार पहले की ही तरह चलने लगा, जैसे उसकी उपस्थिति या अनुपस्थिति से कोई फर्क न पड़ता हो।

कोण्डालम्मा ने दो-चार दिन रसोई ज़रूर नही की, पर शायद वह भी इसलिए नही कि मुनुस्वामी घर में न था, बल्कि इसलिए कि घर में पकाने के लिए ही कछ न था। थोडी-बहुत वह रोई-पीटी भी। पर चूंकि रोना-पीटना रोजमर्रे का काम था, इसलिए किसी पर कोई विशेष असर न हुआ। मानो तालाब में किसी ने पत्थर फेंका, लहरें उठी और तालाब ही में समा गईं—तालाब का पानी फिर से निश्चल हो गया।

मुनुस्वामी का परिवार एक बेकाम मशीन की तरह था और वह स्वयं एक टूटा-फूटा, ढीला-ढाला पुरजा था।

मुनुस्वामी की उम्र कोई बावन-तिरेपन की थी। मोटा शरीर, काला-तपा रग, सरकण्डे के फूल-से बाल। झुर्रियो वाला चेहरा।

जब तक वह ट्राम की कम्पनी में काम करता रहा, तब तक उसका जीवन भी ट्राम की तरह बना रहा—पटरियो पर सीधा चलता गया, आगे-पीछे खट-खट करता, धीमे-धीमे। सवेरे घर से काम पर जाता और

शाम को वापस चला आता। पिछले पच्चीस साल से वह यही करता आया था। जैसे ट्राम को कभी-कभी कारखाने में मरम्मत व रग के लिए भेज दिया जाता था, वैसे ही उसको भी कभी-कभी आराम के लिए बहुत-कुछ मिन्नत के बाद छुट्टी मिल जाती थी।

परन्तु अब उसकी हालत उस टूटी-फूटी ट्राम की तरह थी, जो पटरी पर से गिर पडी हो, या जिसके पहियो के नीचे से पटरी गायब हो गई हो।

वह ख्वाब देख रहा था कि एक-दो साल में वह रिटायर हो जाएगा, प्रोविडेण्ट फण्ड मिलेगा, लडकी की शादी कर देगा और राम-नाम जपता वक्त काट देगा। ज्यो-ज्यो रिटायरमेंट के दिन नज़दीक आते जाते थे, उसमें एक अजीब चुस्ती-सी आती जाती थी। उसके पोपले मुह पर रह-रहकर हँसी दौड जाती थी।

पर अचानक मद्रास की ट्रामवे-कम्पनी बन्द कर दी गई। बताया गया, घाटे के कारण ऐसा हुआ। अदालतो में मुकदमेबाजी हुई। सरकार ने भी हाथ-पैर हिलाए। अखबारो में शोर-शराबा हुआ। लोगो में खलबली मची। बस।

मुनुस्वामी पर तो बिजली ही गिर पडी। उसकी ट्राम पटरी पर से फिसल चुकी थी। आशाओ की बाम्बी एकाएक डह गई थी। उसको ऐसा लगा, मानो गाडी तो वह चला रहा हो, पर गाडी चल न रही हो।

लडकी की शक्ल देखते ही वह जल-सा उठता। दीवार पर टगे देवी-देवताओ को मन-ही-मन हाथ जोडता, भाग्य को कोसता और झख मारकर बैठ जाता। थोडा-बहुत पैसा मिला था, सो जैसे-तैसे गुजारा कर रहा था।

वे हाथ-पैर, जो सिवाय नीद के कभी खाली न रहे थे, ऐसे लगते थे, जैसे खुद-ब-खुद हिल रहे हो। घर में बैठा क्या करता? बीडी सुलगाता और साथ के ड्राइवरो के पास जा अपना दुखडा रोता। सबका रोना एक-जैसा ही था। कौन किसको सुनाता और किसकी सुनता?

घर उसको काटता-सा लगता। एक लडकी थी—उम्र बीस-बाईस की। पच्चीस वर्ष खून-पसीना एक किया, पर वह लडकी के हाथ

भी पीले न कर पाया । किस्मत की बात है । पेरुमाल ने दस साल ही नौकरी की और तीन लड़कियों की शादी करवा दी ।

मुनुस्वामी जो-कुछ कमाता, खाने-पीने में खर्च हो जाता । इकलौती लड़की थी, लाड़ली । जो-कुछ मांगती, पाती । बाप ने कभी 'न' नहीं की । मां ने कभी उसे आंख न दिखाई । और अब, वही लड़की नागिन की तरह लग रही थी ।

उनके बारे में मुहल्ले वाले बेसिर-पैर की कहते थे । कइयों का तो यह भी कहना था कि मुनुस्वामी को लड़की प्यारी है । वह उसके बगैर एक दिन भी न रह सकेगा, इसलिए उसको वह क्वांरी रखे हुए है । हो सकता है कि यह कुछ हद तक ठीक भी हो, पर सच तो अब यह है कि वह लड़की से दूर भागता रहता है ।

एक महीना बीता । दो महीने बीते । मुनुस्वामी ने दौड़-धूप की । पर जब नौकरी थी, तभी किसी ने न पूछा, तो भला अब उसको कौन पहचानता ? रिश्तेदारों में बात छेड़ी, पर सबने इधर-उधर की कही और असली बात टाल दी । उधर, घर में पत्नी आग उगलती रही ।

पत्नी की तो आग उगलने की आदत थी । उसने अपनी जिन्दगी उस आग को झेलते ही काटी थी । वह अपनी जलन को काम में भुलाने की कोशिश करता था । न-जाने भगवान् ने उन दोनों की क्या जोड़ी बनाई थी—पत्नी की और उसकी कभी न पटी । उसकी हर बात में मुनुस्वामी को जहर का डंक दिखाई देता ।

जैसे-जैसे दिन बीतते गए, वैसे-वैसे तंगी अधिक होने लगी । घर में फाके पड़ने लगे । पत्नी भी लाचार थी । वह पति को काम की खोज में जाने के लिए बुरा-भला कह कर हांकती ।

बावन वर्ष की उम्र—कहां जाए मुनुस्वामी ? जिन्दगी-भर ट्राम चलाई थी । कभी और कोई काम किया न था—न शायद और कोई काम आता ही था । फिर भी, वह कोशिश करता रहा । उसी की तरह सैंकड़ों ड्राइवर काम की खोज में जमीन-आसमान एक कर रहे थे । मुनुस्वामी ने कई किवाड़ खटखटाए, पर उनको बन्द पाया ।

भटक-भटककर वह घर वापस आता। कही से कुछ उधार मिलता, तो दो-चार कौर खा लेता, वरना भूखा सो जाता। वह शरीर, जिस पर कभी मोटी मास की परत थी, अब ढीला होकर लटक-सा गया था।

"भगवान् ने दो हाथ क्या इसलिए दिए है कि बेकार बैठे रहो?"—पत्नी ने जहर उगला।

"कौन बैठा है? ··" मुनुस्वामी ने कुछ कहना चाहा कि पत्नी गरज उठी—"नही तो बडे काम पर लगे हुए हो? तभी तो यहा सवेरे-शाम चूल्हा चढता है!"

"खोज तो रहा हू काम।"

"अगर ठीक तरह खोजो, तो क्या काम ही न मिलेगा? कृष्णन् को बस वालो ने ले लिया है। वह भी तो आखिर तुम-जैसा ड्राइवर ही था।"

"पर मेरी उम्र में और उसकी उम्र में ठीक बीस वर्ष का फर्क है, जानती हो?"

"तो क्या तुम हमेशा ड्राइवरी ही करते रहोगे? क्या दुनिया मे और काम नही है? न-जाने क्यो, मेरा तुम-जैसे निखट्टू से पाला पडा! जब तक कमाया, एक पाई न रखी—न आगे देखा, न पीछे। पैसे को हाथ के मैल की तरह साफ कर दिया।"

"काम खोज तो रहा हू।"

"फिर वही·· अब इस अपनी लडकी को कैसे तराओगे? जब लोग आए, तब तुम्हें कोई पसन्द न आया और अब लाख खुशामद करो, तो कोई न आए। मै जिन्दगी-भर चिल्लाती रही कि इसको भी किसी के पल्ले बाध दो, पर तुम्हारे कान पर जू तक न रेंगी। अब कहो, क्या कहते हो?"

"हू-हू।"—मुनुस्वामी कुछ बोल न सका।

"तुमसे बातें करने से अच्छा है कि दीवार से ही बातें कर लू। मर्जी होती है कि लड़की को लेकर कूम नदी में जा डूब मरू। तुम्हें तो शर्म है नही··क्या हमारी भी शर्म मारी गई है? पाच मिनट की ही तो बात है सास रोको कि इस दुनिया के बन्धन टूटे। देख क्या रहे हो?"

मुनुस्वामी खासा। उसने अपनी पत्नी की ओर देखा—कुछ कहना चाहा, पर उसको गरजता देख सहम-सा गया। आंखे नीची कर लीं। शायद उसको जवानी के वे दिन याद आए, जब शराब के नशे में वह पत्नी की पीठ पर अच्छी-खासी बेत तोड़ देता था। बिना बेंत के उसकी ज़बान काबू में न आती थी। उम्र के साथ पत्नी की ज़बान और भी तेज़ाबी हो गई थी।

"अगर मैं ही मर्द होती, तो भीख मांगकर भी अपनी लड़की की शादी करती। भले ही फाके करने पड़ जाते, पर बड़ी लड़की को घर में नहीं रखती। यहां तो नौबत यह आई है कि फाके भी हो रहे हैं और लड़की भी घर में पड़ी है। चूड़िया क्यों नही पहन लेते? किसान की लड़की हूं कोई कहारिन नही हूं कि दिन-रात दूसरों के बर्तन मांजू। घर में खाना हो या न हो, मै दूसरो के घर काम करने नही जाऊंगी। सुनते क्यों नही हो? कान खोल कर सुनो। घरवाली को खिलाना-पिलाना मर्द का काम है, न कि घरवाली का काम मर्द को खिलाना। कब तक हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहोगे?"

मुनुस्वामी वहां बैठा न रह सका। उसने अपनी अधजली बीड़ी सुलगाई और बाहर जा बैठा। पत्नी आग होती जाती थी।

"घर में दो पैसे भी नही, नही तो मै कही एक छोटी-मोटी दोसे (दक्षिण-भारत का एक पकवान) की दुकान ही खोल लेती।·· मेरे बस की बात नहीं कि तुम्हें मै चावल परोसती रहूं। बेशर्म तो हो ही, भीख ही क्यो नही मागते?"

मुनुस्वामी को बेहद गुस्सा आया। वह उठा और पत्नी के बाल पकड़ कर खीचने लगा—पीठ पर दबादब मारने लगा।

"अगर इतने मर्द हो, तो काम क्यो नही करते? औरतो पर ही यह मर्दानगी दिखानी आती है?" वह बकती जाती थी और मुनुस्वामी मारता जाता था। वह आखिर थक-थकाकर बाहर आकर बैठ गया। पत्नी भी सिसकती-सिसकती सो गई। जब मुनुस्वामी सवेरे उठा, तो उसका तकिया भी गीला था।

* * * *

मुनुस्वामी कर ही क्या सकता था ? काम मिलने की कोई उम्मीद न थी। घर बैठ न पाता था। भीख भी न मांगी जाती थी। आदतन वह सवेरे उठ, ट्राम-शेड की ओर चला।

संयोगवश उसी की ट्राम शेड में सबसे आगे खड़ी थी ··१२५ नम्बर। उसके हाथ खुजलाने लगे। एड़िया ऊपर उठी। फिर एकाएक मुख से आह निकली और सिर एक तरफ झुक गया। वह वही दीवार के सहारे खड़ा रह गया।

वहा पुलिस का पहरा था। पहरे वाले ने कहा—"जाओ यहा से ! यहा आना मना है !"

"कब से ?"

"जाओ यहां से !"

"अरे, जिन्दगी यहा काटी है और तुम यहा आने से मना कर रहे हो !"

"तो क्या तुम ट्राम-वर्कर हो ?"

"हा, हां।"

"क्या तुम नही जानते कि तुम्हारा यहा आना खतरनाक है ?"

"हू, हू।"

'जाओ, यहा काम-वाम कुछ न मिलेगा।"

"हू··तो क्या··भीख··" मुनुस्वामी ने हाथ पसारने चाहे, पर पसार न सका। उसने हाथ फटी जेब में रख लिए, नज़र फेर ली और पास वाले मकान की चहारदीवारी पकडकर दूर देखने लगा।

आने-जाने वाले आ-जा रहे थे। मुनुस्वामी उनकी तरफ दीन दृष्टि से देखता, कुछ कहना चाहता, पर चुप हो इधर-उधर देखने लगता। आठ-दस घटे बीडी पीता-पीता वह उसी हालत में इधर-उधर फिरता रहा। अधेरा होते-होते वह घर पहुच गया। न पत्नी बोली न वही बोला। भूखा सो गया।

अगले दिन सवेरे ही वह फिर ट्राम-शेड के पास जा पहुचा। उसने भीख मांगने का निश्चय कर लिया था। और, ट्रामवे-वर्कर शायद ट्राम-शेड के पास ही भीख माग सकता था !

उसके कपड़े चीथड़े हो चुके थे । दाढी वढी हुई थी । सूखे बाल धूल-धूसरित थे । चेहरे पर मिट्टी की मोटी परत थी, आखें लाल, मूछें पीली । वह वही मुनुस्वामी था, जो कभी शान से वर्दी पहने, बटनों को चमका कर, काम पर आता था । पर अब वह ड्राइवर मुनुस्वामी न था, भिखारी था । और, न-जाने क्यो, अब भी उसको १२५ नम्बर ट्राम देखकर मन में गुदगुदी होती थी ।

वह सवेरे से शाम तक वही खड़ा रहा । अच्छे कपड़े पहने हुए एक भद्र पुरुष के पास भीख मागने गया, पर न-जाने क्यों, उसकी शक्ल देखते ही वह भीख न माग सका और उसके मुख से निकल पडा—"कोई काम मिल सकेगा ?" भद्र पुरुष अपने रास्ते चलता गया ।

ज्यो ही वह ट्राम-शेड की ओर मुडा, उसने देखा, ट्राम के पास बिजली वाला बीड़ी पीता हुआ जा रहा है। वह उसका परिचित था। उसने सोचा कि पास जाकर उससे दो आने मांगे ।

"क्यो, क्या हो रहा है, भाई ?"—मुनुस्वामी ने उससे पूछा ।

"ट्राम की मरम्मत हो रही है ।"

"क्या फिर से चलेगी ?"

"वह तो भगवान् जाने ! हम तो हुक्म बजा रहे है ।"

"आखिर मरम्मत क्यो हो रही है ?"

"सुना है, कम्पनी ट्राम-कारें बेचना चाहती है । बेचने से पहले रग-बंग चढवाकर, मरम्मत करवाकर, अच्छे दाम बनाना चाहती है ।"

"हू ।"

"अभी दो-चार दिन का और काम है—फिर हमें भी पर्चा पकड़ा देगी । इन तगी के दिनो में घर-घर की धूल छाननी पडेगी ।" कहता-कहता वह तार का बण्डल सम्भालने लगा । मुनुस्वामी ने दो आने उधार लेने चाहे, पर माग न सका । "क्यो भाई, बीड़ी दोगे ?"—उसने कहा और बिजली वाले ने एक बीड़ी दे दी ।

बीड़ी सुलगाकर वह दीवार के सहारे खड़ा हो ट्राम-कार देखने लगा । उसके कानो में शायद उसकी खट्-खट् की ध्वनि भी आ रही थी । अधजली बीडी बुझाकर उसने जेब में रख ली ।

साझ होने पर पैर घसीटता-घसीटता वह घर चला गया। लडकी से वात करनी चाही, पर उससे क्या कहता ? उसका कुम्हलाया हुआ चेहरा देखकर उसने चुप रहना ही अच्छा समझा। खाली पेट सो रहा।

चार-पाच दिन लगातार वह ट्राम-शेड जाता—वही घटो खडा रहता, पर भीख न माग पाता। एक दिन वही खडा-खडा वेहोश गिर गया। पुलिस वाले ने देखा और वन्दूक कन्धे पर रख, लेफ्ट-राइट करता इधर-उधर चलता रहा। आने-जाने वाले भी उसकी तरफ देखते और चले जाते। शहरो में तो परिचित होने पर ही परोपकार जगता है।

वह थोडी देर वैसे ही पडा रहा। कोई मैली-कुचैली औरत एक हड़िया में माड़ लिए पास के रिक्शा-स्टैण्ड की ओर जा रही थी। उसने अपने पति को आवाज लगाई और पानी लाने के लिए कहा। पानी मुनुस्वामी के मुह पर छिडका। उसको होश आया। उसने कहा कि भूख लग रही है। उस औरत ने उसको माड़ खिला दिया। इतने में तमाशवीन भी इकट्ठे हो गए।

अगले दिन भी वह ट्राम-शेड के पास यथापूर्व खडा हो गया। थोडी देर में कम्पनी का इन्स्पेक्टर डाटता-डपटता शेड से वाहर निकला। मुनुस्वामी को देखते ही उसकी आखें अगारे वन गई।

वह पुलिस वाले से कह रहा था—"पुलिस, केस चलाओ। पाच कारो से विजली के लट्टू गायव है। कई मशीनो मे तो पीतल के हैंडिल भी चुरा लिए गए है। पकडो इन चोरो को····"वह कह ही रहा था कि मुनुस्वामी दूसरी तरफ देखने लगा।

"हो-न-हो, इसी ने चुराए हैं।"—पुलिस वाला मुनुस्वामी की ओर इशारा कर रहा था—"सात-आठ दिन से यहा मटरगश्ती कर रहा है।" पुलिस वाले मुनुस्वामी को थाने ले गए।

मुनुस्वामी जानता था कि वह उन विजली वालो की करतूत थी। उनको नौकरी से तो हाथ धोना ही पड रहा था, जाते-जाते वे लट्टू वगैरह वेचकर दो-चार पैसे वना लेना चाहते होगे।

सव-इन्स्पेक्टर ने उससे जवाव तलव किया, पर वह कुछ न वोला। डराया-धमकाया, पर उसके मुख से एक शब्द न निकला। लाचारी,

फिर भी वह न बोला। शायद वह जानता था कि घर से जेल ही अच्छी है। कम-से-कम बिना भीख मांगे वहां खाना तो मिलेगा।

मुनुस्वामी पर केस चलाया गया। अदालत ने पूछा—"क्या तुमने चोरी की है ?"

"हूं।"—मुनुस्वामी ने अदालत की तरफ एक बार देखा, फिर चीथड़ों के नीचे चिपके हुए पेट को निहारा। सहसा उसके होंठ चिपट गए।

मुनुस्वामी को एक महीने की सज़ा मिली। वह मुस्करा दिया।

७२

क्षमा-याचना

राय आनन्दकृष्ण

मेज पर रखे सारे सामान को इधर-उधर कर, रद्दी की टोकरी को उलट-पलट कर, उसके भीतर पड़े फटे लिफाफों-चिट्ठियों को फर्श पर बिखेर, एक ओर बिछी गद्दी-चादनी को कई स्थानों से उलट-पुलट, इधर-उधर बिखरे कपड़ों को पुन बिखेर, जिनकी तलाशी लेने से कई की जेबें बाहर ही निकली रह गई थी, सारे कमरे को अस्त-व्यस्त कर, मदन ने ऊपर घड़ी की ओर देखा— दस बज चुके थे। उसने अपनी बड़ी लटो को, जिनमें से कुछ आखो के सामने लटक आई थी, सिर के एक झटके से पुन अपने स्थान पर ला दिया। फिर क्लान्त हो, वह उठ खड़ा हुआ।

"आखिर घटना हो ही गई।" मदन का रोष-भरा उलाहना यद्यपि किसी को लक्ष्य करके नही था, फिर भी आगन के उस पार चौके में बैठी सुभद्रा के कानो से टकराकर वह रुक गया। मदन को उत्तर देने के लिए वह कोई बात ढूंढने लगी, पर अधेरे भण्डारघर में कुछ दिनो से रखी और इधर-उधर हुई किसी छोटी-मोटी चीज की तरह, बहुत टटोलने पर भी उसे कोई बात न मिल सकी। उसके माथे पर पसीने की बूंदें और बड़ी हो गईं— अपनी असहायावस्था पर उसकी आंखो में आसू उमड आए।

परसो रात जब कई महीने बाद उसके मामा फिर मेहमान होकर आए थे, तभी उसके मन में न-जाने कितनी आशकाएं उठने लगी थी,

न-जाने क्यो उसका हृदय धड़कने लगा था और उसने उसी वात की कल्पना कर ली थी, जिसे आज मदन ने अन्तरिक्ष की ओर देखकर अर्ध-स्वगत-सा कह डाला था।

फिर सुभद्रा के हाथ, मशीन की तरह, वटलोही मे पड़ी दाल को चलाने में व्यस्त हो गए। उसे वह न-जाने कितनी देर तक चलाती रही— उसी भाति, जैसे उसके मन में घूम-घूमकर अपने वचपन की घटनाए आ रही थी।

उसके पिता वहुत पहले ही स्वर्ग सिधार चुके थे। एक वहुत ही अस्पष्ट छाया की भाति उनकी आकृति कभी-कभी उसके स्मृति-पटल पर उभर आती थी। किन्तु उसे यह भली भाति याद था कि उसकी मा अपने इन्ही भाई के यहा महीनो रहती थी। वहां एक वडे-से आम के पेड़ पर सखियो के झुण्ड-समेत झूला झूलते उसकी न-जाने कितनी वरसातें वीती थी।....

उसका हाथ मन के साथ किस पूर्णविराम पर कव रुक गया था, इसे वह स्वय न जान सकी और दाल उफनकर जव आग को वुझा देने की चुनौती देने लगी, तव जाकर उसका ध्यान वचपन के सुनहले दिनो से लौटकर फिर पति की उक्ति पर लौट आया—"आखिर घटना हो ही गई।"

परसो रात जव मामा ने दरवाज़ा खटखटाया, तभी उसके मन में यह वाक्य कैसे गूजने लगा था, यह वह स्वय न समझ सकी थी। तव से आज तक, तीन दिनो मे, इस वाक्य ने उसके मन को मथ डाला था। फिर भी, इस चिर-परिचित वाक्य ने उसको इतना उद्वेलित कर दिया कि वह इतना भी न पूछ सकी कि आखिर क्या हो गया?

सहसा वड़ी-वडी आखो से वूदें ढुलककर उसके सावले गालो पर आ टिकी। मदन वाल झाडते-झाड़ते कव आ पहुचा, इसका उसे भान ही न हुआ। उसने सुभद्रा को टोका—"यह क्या, तुम तो ज़वान पर ताला लगा देना चाहती हो! आखिर, चुपचाप सहते जाए, ऐसी हमारी हैसियत तो है नही।" उसका लक्ष्य आंसू की उन वूदो की ओर था।

सुभद्रा ऐसी जड़ हो गई कि वह उन अश्रु-बिन्दुओं को आंचल से पोंछ भी न सकी—ऐसा कोई उपाय भी न था कि वह उन्हें वापस लौटाकर आंखों में ही पी सकती। मदन लौटते-लौटते कह गया—"दफ्तर का समय हो गया है—अब जो-कुछ तैयार हो परोस दो।" सुभद्रा फिर अतीत में घूमने लगी।

* * *

मामा की सारी सम्पत्ति तभी उड़ गई थी, जब सुभद्रा बचपन पार कर रही थी। दिनोदिन उनके बड़े देहाती घर में आने-जाने वालों का क्रम घटता गया, ऊपरी सजावट के सामान टूटते-फूटते एवं बिकते गए, मकान का जो अंग गिरता गया, उसकी मरम्मत न हो सकी और अन्ततः किसी स्वप्न-लोक की तरह उनकी सारी सम्पत्ति के साथ-साथ वह घर भी न-जाने कहां चला गया। वे विरक्त-से हो गए और इधर-उधर घूमने लगे—कभी-कभी सुभद्रा के यहां भी चले आते।

पहली ही झलक में मदन को उनका आना न रुचा था। उस बार दूसरे दिन ही वे चले गए थे, तो मदन ने सन्तोष की सांस ली थी—इसे बिना बताए ही सुभद्रा ने जान लिया था।

उस बार मदन के दफ्तर चले जाने पर, दिन-भर अकेली पड़ी-पड़ी वह इस सबके प्रति अपने पति की रुखाई पर विचार करती रही थी, पर उसे कोई समाधान न मिला था।

प्रति दिन की भांति शाम को पति के लौटने के बाद, जब भोजन, इत्यादि से छुट्टी पाकर, गोद में शिशु को लेकर, सुभद्रा मदन से इधर-उधर की बातें करने लगी, तब भी उसे कोई सन्धि न मिल सकी थी कि वह मामा के प्रति मदन के भाव को जान ले। फिर भी, न-जाने कितना रोकते-रोकते उसके मुंह से निकल पड़ा था—"मामा से पूछना भूल गई कि आम के उस पेड़ का क्या हुआ, जिस पर झूला पड़ता था और मैं दिन-भर झूलती रहती थी।"

मदन जैसे मामा को इतनी देर भूलकर कुछ आराम का अनुभव कर रहा था। पत्नी की इस बात से वह चौंक-सा उठा था—"कौन है वे

तुम्हारे मामा ? मैंने तो जैसे इन्हें कभी देखा तक न हो । कुछ अजब-से लगते हैं ।"

सुभद्रा ने पति पर असर डालने के हेतु सोद्देश्य कहा था—"हमारे विवाह में तो सारा काम हँस-हँसकर कर रहे थे, फिर भी तुम्हें याद नही ? पहले वहुत पैसे वाले थे। इधर उनकी सज्जनता का लाभ उठाकर उनके नौकर-चाकरो ने सारी सम्पत्ति हड़प ली । है भी नही कोई इनके । अव कुछ विरक्त-से घूमते है। देखा नही तुमने, कपडे-लत्ते सफेद खद्दर के, लम्बे-लम्वे सिले हुए, दाढ़ी-मूछ मुडाए ?"

अधेरा वढ़ चुका था, सो सुभद्रा यह न देख सकी कि मदन के चेहरे की रेखाए कठोर हो गई थी। पर भविष्य में उन दोनो के वीच मामा को लेकर वहुत दिनो तक कोई वात न हो सकी और तभी एक दिन मामा पुनः आ गए ।

मदन उस दिन दफ्तर गया था । सुभद्रा ने वहुत ललककर उनका स्वागत किया था। वहुत देर तक वह उनसे वचपन और मा के सम्वन्ध में वातें करती रही थी। न-जाने कितनी स्मृतियो के कपाट वह खोलती-मूदती रही थी। उनकी पिछवाडे वाली पगडडी से प्रति दिन वह अपनी मा के साथ जा गगा में ऊवम करती थी, इसका भी उल्लेख आया था । वगल के घर में लुहार की लड़की उसकी सखी थी—उसकी भी चर्चा चली थी । पडित रामभरोसे मामा के घनिष्ठ मित्र थे । उनकी लड़की के साथ गुड्डे-गुड़ियों के न-जाने कितनी वार उसने व्याह रचाए थे । उसका व्याह एक वृद्ध से हुआ था, जिसे लोग गुड्डे की भाति एक जगह से दूसरी जगह उठाकर वैठा देते थे, यह मामा ने वताया था। और, अन्त में, उसने उस आम के पेड की पूछ-ताछ की थी, जिसकी डाल पर झूला डालकर वह अनेक वरसातो में झूली थी । वह भी सारी सम्पत्ति के साथ विक-विका गया था— न-जाने किस-किस के हाथो में घूमता रहा था। वह दिन में अदृश्य हो जाने वाली तारावली-सा वर्तमान होते हुए भी वर्तमान न था ।...

'और मामा, तुमने सव छोड़कर यह वैराग्य क्यो धारण कर लिया ?"—पुरानी स्मृतियो में डूवते-उतराते हुए उसने पूछा था।

मुरझाती हुई फूल की-सी सूखी हँसी के साथ मामा ने उत्तर दिया था—"तेरे सिवा कौन बच रहा है अब मेरा, जो यह प्रश्न भी करता है—किसके लिए अब पहनू-ओढ़ू ? बहुत कर चुका, अब थोड़ी और बीत जाए। कभी-कभी आकर तुझे देख लेता हू, तो छाती ठडी हो जाती है।"

"फिर भी, मामा, कही एक ठिकाना तो बना लेना चाहिए न।" सुभद्रा ने स्वाभाविक बात कही थी—"इस तरह बेठिकाने घूमते रहने में कष्ट-ही-कष्ट है, सुख नही।"

और, मामा ने उतनी ही स्वाभाविकता से उत्तर दिया था—"बाप-दादो से चली आई गुरु-परम्परा वाले गोसाईजी एक मन्दिर बनवाने वाले है। जो-कुछ बचा-खुचा था, उसे मैंने मन-ही-मन वही अर्पण कर दिया है। तुम तो सब जानती ही हो—था भी क्या ? सोने की दो-चार चीजें थी—कोई बीस भर की और एक नथ। सब मिलाकर कोई दो हजार का सामान होगा। उसे वही दे देना है। फिर मुट्ठी-भर अन्न और चार हाथ छाया चाहिए, बस ! भगवद्भजन में जीवन कट जाए—अब तो यही कामना है।" कहते हुए उन्होंने अपनी बढी हुई अधपकी दाढी पर हाथ फेरा था।

तभी सुभद्रा अतीत के साम्राज्य से, शाप-भ्रष्ट नहुष की भांति, वर्तमान में आ गिरी थी, जब उसके पति ने दफ्तर से लौट कर दरवाजा खटखटाया था। उसी क्षण सुभद्रा के मन में न-जाने कैसी-कैसी आशकाए उठ खडी हुई थी।

पर इस बार कोई अप्रिय घटना न घटी थी। मामा सात दिन रहे थे और रोज जल्दी ही खा-पीकर कही चले जाते थे। फिर रात काफी देर गए लौटते थे। अत सुभद्रा ने निश्चिन्तता की सास ली थी। फिर भी, अन्तिम दिन, जब कमली में अपना सामान लपेट कर वे उनसे एव उनके स्वामी से विदा ले रहे थे, तब मदन ने बहुत रूखे स्वर में ज्या कह डाला था, उसे वह आज तक न समझ सकी थी—"देखिए, हमारा घर बहुत छोटा है। अत. भविष्य में आप कही दूसरी जगह टिकने का प्रबन्ध कर लीजिएगा।"

उसके वाद महीनो तक न मामा आए और न उन दोनो में ही उनके सम्वन्ध में कोई चर्चा चली। दोनो जैसे इस प्रश्न पर एक-दूसरे से कुछ छिपा कर रखते, जिसे प्रकट करने में वे आंखे चुराते।

* * *

परसो रात जव मामा ने दरवाज़े पर आवाज़ लगाई, तभी सुभद्रा के मन मे किसी ने कह दिया था, इस वार कुछ-न-कुछ होकर रहेगा। कल का दिन भली भाति वीत गया और रात पति के सो जाने पर मामा ने जव सुभद्रा से कह दिया कि कल सुवह ही मै चला जाऊंगा, मेरे लिए रसोई न वनाना, तो सुभद्रा के मन से एक भारी वोझ हट गया। उसकी सारी आशंकाए निर्मूल सिद्ध हुईं, यह जान कर उसे अपूर्व सन्तोप हुआ। पर आज दफ्तर जाते समय स्वामी ने जो 'आखिर घटना हो ही गई' कह दिया, उससे उसका मन फिर उद्विग्न हो गया। खाने के स्वल्प अवकाश मे उसने इस अप्रिय प्रसंग को छेड़ने की भूल न की। परिणाम यह हुआ कि सारे दिन उसका मन उससे पूछता ही रहा कि आखिर क्या हो गया ?

शाम को मदन देर से लौटा। खाना खा, दिन-भर की गर्मी से झुलसे शरीर को सुखद समीर से ताज़गी पहुचाने के लिए, जव वह छत पर वैठा, तव सुभद्रा ने वरवस यह अनुभव किया कि स्वामी मामा की वात छेड़ने के लिए उद्विग्न है। इस विकलता से छूटकारा देने के लिए जव वह कोई वात छेड़ने का उपक्रम करने लगी, तव वहुत देर तक दोनो के वीच मौन का एक परदा पड़ गया, जो उत्तरोत्तर घना होता गया। इस असह्य परिस्थिति को दूर करने के लिए सुभद्रा ने वात निकाली—"मामा कहते थे कि उन्होने कोई दो हज़ार के गहने अपने गोसाईंजी को सर्मपित कर दिए।"

मदन फिर भी चुप रहा। उसके असमंजस को देख, सुभद्रा चौंक उठी। सुवह आवेश में पति जो-कुछ कह गया, उसे दुवारा कहने में जव उसे इतना संकोच है, तव कोई साधारण घटना नही जान पड़ती। उसे तुरन्त ही जान लेनी चाहिए वह वात, जिससे निराकरण तो हो सके। वह वोली—"क्या कह रहे थे तुम आज ? कौन-सी वात हो गई सुवह ?"

मौन का परदा हट गया— संकोच की अनुल्लंघनीय दीवार ढह गई। मदन ने रुकते-रुकते कहा—"कुछ नही। दस रुपए का नोट मेज पर रख, दावात से दबा, नहाने गया था। लौटकर देखता हू कि न मामा हैं, न नोट। तब से खोजता-खोजता हार गया, उस कोठरी की एक-एक चीज़ तलाश डाली —कुर्सियो के गद्दे उलट डाले, रद्दी की टोकरी में रखे पुराने अखबार-चिट्ठियां देख डाली, मेज़ पर धरी किताबों को देखा, खूंटियो पर पड़े कपडो की एक-एक जेब देख डाली, नहाने वाले घर की हर चीज़ उलट डाली · ·"

सुभद्रा को जैसे काठ मार गया। वही मामा न, जिनके दरवाज़े गाय-भैंस-घोड़ो की कतारें बंधी रहती थी? वही न, जिनके यहा नित्य नए-नए उत्सव होते रहते थे? वही न, जिनके यहा आने-जाने वालो की भीड़ लगी रहती थी? जिनके यहा · · ·

नदियो में ऐसे स्थल होते है—दो-चार चट्टानो के बीच, जहा पानी आ-आकर घूमता रहता है। वैसे ही, सुभद्रा का मन फिर कितने-कितने दृश्यो, घटनाओ और व्यक्तियो की ओर घूमता रहा। मामा के घर में अनजाने से धीरे-धीरे सन्नाटे का बढना, आने-जाने वालो की कमी होना, सूखते हुए महावृक्ष की भांति धीरे-धीरे पत्ते गिरा छायाहीन होते जाने की भांति जायदाद को बेचते-बेचते क्रमश. उनका अनागरिक हो जाना—सभी दृश्य उसकी आखो के सामने आ-आकर नाचने-कूदते अदृश्य होते गए। फिर, बहुत दिनो तक मामा के हाल-चाल और ठौर-ठिकाना का ही पता न चला और एक दिन मामा ने स्वयं आकर दरवाज़ा खटखटाया, वही न?

सुभद्रा न-जाने कब तक कल्पना-लोक में घूमती रही। उधर, उसका पति भी किसी दूसरी उधेड़-बुन में लग गया था। फिर भी, मौन के अनन्त आकाश ने घटाटोप की तरह उन दोनों को ढक लिया है, इसका मदन ने अनुभव कर लिया। मदन उससे पार होने के लिए विकल हो उठा—"इसी से मैं तुम्हें नही बता रहा था कि तुम दुःखी हो जाओगी। मैं जानता था · ·"

सुभद्रा का उत्तर देने का मन न हुआ। फिर भी, अनजाने में उसके मुह से निकल गया—"समय की वात है! मामा पर यह कलंक भी लगना था!"

दूसरे दिन तड़के ही, दफ्तर के काम से, न-जाने कौन-कौन-से कागज-पत्र अपने चमड़े के वग में भरकर, मदन शहर से वाहर चला गया।

लौटने के तीन दिन वाद मदन ने उसे वतलाया—"अचानक वाजार में मामा से भेंट हो गई थी—मैंने सव हाल कह दिया। वे भी कुछ न वोले, चुप रह गए। मैंने उन्हे यहा आने से मना कर दिया है।"

मदन दफ्तर जाने की जल्दी में था। सुभद्रा ने कोई उत्तर न दिया। पर सारे दिन दफ्तर में वैठे-वैठे मदन की आखो के सामने सुभद्रा का वह चेहरा नाचता रहा, जिस पर मामा वाली वात सुनकर व्यथा की रेखाए उभर आई थी।

* * *

कई वर्ष वीत गए। मामा यह सव-कुछ भुला देगे, यह सोच सुभद्रा भी उनकी प्रतीक्षा करती-करती दूसरे लोक को चली गई। उसके अन्तिम दिनो के चित्र मदन के स्मृति-पटल पर प्राय· साकार हो उठते। अन्त में सुभद्रा को मामा और आम के पेड़ की वहुत याद आई, इसे मदन कैसे भूल सकता था।

सव जोड़-घटा कर मदन न-जाने क्यो, भीतर से अनुभव करता कि मामा के प्रति उसने न्याय नही किया। वह उन्हें खोज कर उनसे क्षमा मागना चाहता। पर फिर मामा कही न दीखे। सुभद्रा की वीमारी के अन्तिम दिनो में, दफ्तर से समय निकाल कर, न-जाने कितनी वार उसने मामा की खोज में शहर की परिक्रमा कर डाली, क्योंकि सुभद्रा ने एक दिन क्षीण कंठ से कहा था कि वे यहीं कहीं मन्दिर वनवा रहे थे—उसी के लिए यहा आकर ठहरे थे। फिर भी, मामा न मिले।

मदन उस समय ही उसका आशय समझ सका था। उसकी निस्तेज आंखो ने इस कथन से वहुत-कुछ अधिक कह डाला था। मदन ने संतोप देने के लिए उससे कहा था—"तुम चिन्ता न करो, सुभद्रा! मैं

संतोप हुआ था; पर वह अंक कहां रखा गया था, इसकी उसे वहुत दिनो तक खोज रही थी। विशेप रूप से इधर-उधर कई विक्रेताओ के यहां खोजने पर भी, युद्ध के उन समस्त पदार्थों की भाति, विदेशी पत्रिकाओ की दुर्लभता के दिनो मे वह अक न मिला था। उस धारावाहिक उपन्यास के क्रम के टूट जाने से उसे वहुत असंतोप हुआ था। अगले अंक से उसका साराश पढकर किसी प्रकार उसने अपने-आपको सतुप्ट किया था। फिर भी, जव तक उसके मन में उस कहानी की छाप वनी रही, तव तक जहां उसका स्मरण आता, उस अक के खो जाने की उसे कसक होती।

आज कागजो मे सहसा वह प्रकट हो गया, तो उसे स्वाभाविक कौतूहल ही नही हुआ, सारी घटनाएं याद हो आईं। वरवस उलटते-पलटते उसका हाथ वहा जाकर रुका, जहा धारावाहिक अंश शुरू होता था, क्योकि इतने दिनो की वात होने पर भी उसे पढ डालने की उत्कंठा कम न थी। पर दूसरा पृष्ठ उलटते ही एक वहुत वडा उद्घाटन हुआ। दस रुपए का नोट उसमें पडा था। वही नोट, जिसके लिए इतना वड़ा काण्ड खड़ा हुआ था– अन्ततः जिसकी ग्लानि सुभद्रा के मन में रही थी। वही था—सन्देह का कोई कारण न था। छ-सात वर्षों से तो उस पत्रिका का चलन ही वन्द हो गया था। फिर, उस पत्रिका के अखवारी कागज पर उतनी दूर रंग और भी गहरा हो गया था, जैसे स्मृति वेदना को अपने भीतर छिपाए-छिपाए और भी गहरी वना देती है।

उस दिन से मदन मामा की और भी अधिक खोज करने लगा। पर शहर के अनेक मन्दिरो, मठो तथा धार्मिक आचार्यो से पूछ-ताछ करने पर भी उसे कोई पता न लगा। सुभद्रा ने जिस सम्प्रदाय में मामा को दीक्षित वतलाया था, उसके कई व्यक्तियो से वह मिला, फिर भी उसे सफलता न मिली।

* * *

पर उसे क्षमा मांगनी थी, अत. उसका प्रयत्न वढता गया।

एक दिन वह नित्य की भाति हारा-थका लौटा, तो वैठक के फर्श पर एक कार्ड पड़ा था। चार दिन पहले दक्षिण के किसी सुदूर

मन्दिर से वह चला था अपरिचित नागरी और टूटी-फूटी हिन्दी में जो लिखा था, उसका आशय इस प्रकार था—

"स्वामी हरिशरणानन्दजी का देहान्त हो गया। कल उनका भंडारा भी हो गया। अपने को वे गृहस्थाश्रम में आपकी पत्नी का मामा वतलाते थे। सन्निपात में उन्होने जो-कुछ कहा, वह ठीक समझ में नही आया। पर आपको पत्र लिखने को वे वार-वार कहते थे कि आपने मुझ पर व्यर्थ सन्देह किया। धन को मैंने सदा तृणवत समझा है। मै जा रहा हू। मुझे क्षमा कीजिएगा, तभी मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी।"

आज भी, जव निरपेक्ष सध्या को पडुक की उदास वोली भरती रहती है, मदन अपने-आपको उन स्वर्गीय आत्माओ से क्षमा मांगने में असमर्थ पाता है। वह विवश है। और तव, मामा का वह सदेश जैसे अन्तरिक्ष से उस पर हंसता रहता है।

सैयद बाबा

राहुल सांकृत्यायन

भूमिका

बचपन में आदमी स्वप्न और जाग्रत, दोनो अवस्थाओ में मानो एक ही समय घूमता रहता है। जो कथाएं वृद्धाओं और दूसरो से सुनने को मिलती है, वे भी उसे कल्पना-क्षेत्र मे घूमने की प्रेरणा देती है, लेकिन ये कल्पनाए सत्यता पर बहुत कम अवलम्बित रहती है। कहा जाता है, राजा भोज जिस सिंहासन पर बैठे थे, वह सदियो-पीछे एक खेत में कई हाथ नीचे दब गया था। किसान का लड़का जब उस जगह पर जाकर बैठता, तो वह राजा भोज का अभिनय करने लगता। खोदने पर वहा पुराना सिंहासन निकला, जिसके चारो ओर बत्तीस पुतलिया बनी थीं। कोई अयोग्य राजा जब उसकी ओर पैर बढाकर चढ़ने की कोशिश करने लगा, तो पुतलियो में से एक-एक ने खड़ी हो कर भोज की महिमा की एक-एक कहानी सुनाई थी। यह एक मनोरंजक कहानी हो सकती है, पर इसमें सत्यता का अग इतना ही है कि हरेक प्राचीन विस्मृत चिह्न के अकस्मात् हस्तगत होने पर आदमी की जिज्ञासा उसे जानने के बारे में जरूर उत्कट हो जाती है।

मेरा पितृग्राम कनैला (जिला आजमगढ) के नाम से मशहूर है, लेकिन सरकारी कागजो में उसे कनैला-कर्नहट लिखा जाता है। हो सकता है कि किसी दूसरे कनैला ग्राम मे अलग करने के लिए उसके साथ कर्नहट जोड़ा गया हो, या फिर शायद कर्नहट नाम ही पुराना हो और

कनैला नाम वहा की कहावत के अनुसार कनैला फूल के जगलो के कारण पडा हो। उसकी बगल में ही नरहता का छोटा गाव है, जो कर्नहट की तरह सम्भवत नरहट रहा हो। हाट वाजार को कहते है, पर ये दोनो गाव हाटो से वहुत दूर है। रेल के सवसे नज़दीक के स्टेशन ८-९ मील से कम दूर नही है। अभी हाल में कनैला के एक छोर से पक्की सडक की जमीन नापी गई है। शायद पक्की सडक वन जाने पर वसें दौडने लगें और तव आने-जाने में आसानी हो जाए और ये वियावान गाव सभ्य आदमियो के गावो में परिणत हो जाए। कर्नहट को भी लोग कनैला के कनैल से ही जोडना चाहते है, पर यह गाव ऐसा निरा जगली गाव पहले नही था, यह यहा के अवशेपो में जव-तव मिल गई चीजें वतलाती है। मौर्य-काल की ईंटें यहा मिली है। धरातल पर ही डीह वावा के स्थान में वज्रयान-बौद्धधर्म की खण्डित मूर्तिया भी पूजी जा रही है, जो १०वी-११वी शताव्दी की हो सकती है। डीह वावा की वगल में ही पहले विस्तृत किन्तु अव डर के मारे खेत न वनाया गया, कुछ गज लम्वा-चौडा ऊचा स्थान कोट के नाम से मशहूर है, जहा सैयद वावा की कब्र पूजी जाती है। जान पडता है कि ये सैयद वावा इस्लाम के आरम्भिक शासन के कोई तुर्क सेनानी थे। वनारस यहा से २० कोस से अधिक दूर नही है और इस जगह से मगई के पार सिसवा तक मीलो दूरी में गुप्त या प्रकट ध्वसावशेप चले गए है, जिनसे पता लगता है कि मुस्लिम-काल में भी यह स्थान उतना अकिंचन नही था। किंचन होने का ही शायद इसे फल भोगना पडा और तुर्कों की सेना ने आक्रमण करके इसे लूटा और पहले के सम्पन्न लोगो को अधिकतर मार भगाया। सैयद वावा की परम्परा के वाहक कनैला के चन्द घर चूडीहारे-दर्जी-मुसलमान है, या हरिजन-अर्ध-हरिजन जातिया।

आरम्भ में, गुलाम-खिल्जी-तुगलक वादशाहो के शासन-काल (११९४–१४५१ ई०) में कितने ही वडे-वडे अफसरो के पद पर तुर्क-भिन्न मुसलमान भी थे, जैसे असली या नकली सैयद, आदि। सैयद मसऊद सालारगाजी नामक एक ऐसे तुर्क सेनापति का हमें पता है। कनैला में भी ऐसा ही एक सैयद मुस्लिम शासक रहता था।

शताब्दियों वाद, उसके या उसके वंशज के अत्याचार की एकाव कथाएं अव भी वहां मशहूर है ।

(१)

कर्नहट शिशपा नगरी का उपनगर था, जहां के किसी पुराने शासक कर्नक के नाम पर एक हट– हाट वसी हुई थी । यही नही, वहां पर राजा लखनदेव का एक छोटा-सा महल था । अपनी एकांतता और आस-पास के रमणीय सौंदर्य के कारण वह महल अक्सर खाली नहीं रहता था । १३-वी शताब्दी के प्रथम पाद में महल में राजसी तडक-भड़क दिखाई पड़ती थी, परन्तु आज उस पर उतनी हँसी और प्रसन्नता के चिह्न नही दिखाई पड़ते । वहा एक विचित्र तरह की निष्क्रियता और नीरवता-सी छाई दिखाई पड़ती है । कारण जानने के लिए वहुत माथापच्ची करने की आवश्यकता नही । भिक्षु तथागतश्री और पण्डित माहव (मावव) महल के उत्तर तरफ के पोखरे के पूर्व वाले भीटे पर, एक पेड के नीचे वैठे, वडी गम्भीरता से वातचीत कर रहे है, जिससे इस समय की स्यिति का कुछ पता लग सकता है ।

भिक्षु तथागतश्री के शरीर पर ताम्र वर्ण का चीवर पड़ा है। उनका सिर घुटा हुआ है । आयु ५० के करीव होगी, लेकिन स्वास्थ्य के कारण वे ३० से अधिक के नहीं मालूम होते । उनके शरीर का रंग भी कुछ-कुछ चीवर के रंग से मिल जाता ह । चेहरा सुन्दर और सौम्य है । आंखो की चमक से पता लगता ह कि वे मेधावी पुरुप है । इस समय जरूरत से अधिक गम्भीरता उनके चेहरे पर है । माहव पण्डित उनसे दो-चार वर्प ही उम्र में कम होगे, पर वे अपनी उम्र से भी दस वर्प और वूढ़े मालूम होते है । उनके गोरे मुह पर सारी मूछें सफेद है, सिर के वाल भी सन-से हो गए हैं, चेहरे पर झुरिया हैं । उनके शरीर पर नीचे वोती और ऊपर एक सफेद चादर है। लम्वी शिखा पीछे की ओर वंवी है। दोनों यद्यपि एक वर्म के मानने वाले नही हैं, पर संस्कृति एक होने से उनका मत-भेद वहुत सीमित ही है। दोनो ने कई साल तक साथ ही वाराणसी में अध्ययन किया है–कितने विपयो को तो एक ही गुरु से; इस-

लिए दोनो में विशेष आत्मीयता है। आज की स्थिति से दोनो एक समान चिन्तित हैं।

माहव पण्डित कहते हैं—"भन्ते तथागत, ज्योतिष मैंने भी पढा है, पर ज्योतिषियो की भयंकर भविष्यवाणियो पर मै विश्वास नही रखता— न पुराने ग्रन्थो में म्लेच्छ-राज्य के कायम होने की बात पर ही मेरा विश्वास है। पर मुझे इसका अर्थ समझ में नही आता कि हमारे इतने बडे देश में—जहां करोडो आदमी रहते है और जिनमें वीरता की कमी नहीं है—कैसे ये थोडे-से तुर्क सवार गावो-नगरो को लूटते, आग लगाते, चीरते-फाडते अजेय हो, बनारस और आगे तक को अपने अधिकार में लेने में सफल हुए है?"

तथागत—"भाई, इसमें चकित होने की आवश्यकता नही। जो बात आखो के सामने देखी जा रही है, उसमें सन्देह करने की गुजाइश ही क्या है? तुर्क अजेय है— उन्होंने सिन्ध को लिया, कन्नौज को लिया, दिल्ली में अपनी राजधानी बनाई, वाराणसी को मटियामेट किया, और अब गगा के दक्षिण-पूर्व का बहुत-सा भाग भी उनके हाथ में चला गया है। नालन्दा की ईट-से-ईट बज गई, उसके देवालय और पुस्तकालय राख बन चुके हैं। काबुल से भी पश्चिम कहा तुर्कों का अपना मूल स्थान, और कहा वाराणसी और नालन्दा!"

"यही तो समझ में नही आता कि हमारे लोगो ने कम बहादुरी से मुकाबला नही किया, तब भी इस बाढ को रोकने में सफल नहीं हुए।"

"माहव पण्डित, हम भी कैसे परस्पर-विरोधी विचारो के मिश्रण है! यहा महाराज लखनदेव की मंगलकामना के लिए हम पुरश्चरण कर रहे है। मैं तारा और महाकाल की पाठ-पूजा कर रहा हू, और आप सिंहवाहिनी देवी की। हमें अब तक की घटनाओं को देखते-सुनते विश्वास हो गया है कि तारा और सिंहवाहिनी, दोनो में से किसी के पास भी ऐसी शक्ति नही है कि हमारी रक्षा कर सकें। अगर शक्ति होती, तो वाराणसी और नालन्दा के साथ और भी कितने ही हमारे महान् तीर्थ और देवालय राख के ढेर न बनते!'

"आपकी बात से मेरा मतभेद नहीं हो सकता, यह आप जानते ही है।"

"तो हमें मानना पड़ेगा कि सिन्ध से सोनभद्र तक हमारे देश में आदमी नही, बल्कि भेड़ें बसती है, जो मुट्ठी-भर तुर्कों के सामने मरने और भागने के सिवा और कुछ कर नही सकती। लेकिन मैं ऐसा नही मानता। वस्तुत· हमारे लोग भेड़ नहीं है, उन्हें जान-बूझकर भेड बनाया गया। मै दूसरे देशो में भी गया हूं। देश के ऊपर संकट आने पर वहां का बच्चा-बच्चा शत्रु का मुकावला करने के लिए तैयार हो जाता है— स्त्रियां भी मर्दों का अनुकरण करने से पीछे नही रहती। क्या हमारे यहां ऐसा हो रहा है?"

"नही, हमारे यहां तो क्षत्रियों ही का काम शस्त्र-तलवार उठाना है।"

"और केवल क्षत्रिय, क्षत्राणियां नहीं, जिन्हें अपनी लाज़ बचाने के लिए केवल आग मे जल मरने की शिक्षा दी गई है! क्षमा करें अपनी जाति-व्यवस्था के ऊपर कुछ कडे शब्द कहने के लिए।"

"क्षमा की कोई आवश्यकता नही।"

"देश के रक्षक क्षत्रियो की संख्या ३० में एक से अधिक नहीं है, और उस एक मे से भी आधी स्त्रिया केवल जीती चिता पर जल सकती है, अर्थात ६० में से १ क्षत्रिय पुरुष है। उनमें भी बच्चों-बूढो को हटा दिया जाए, तो मेरी जनता में सौ मे से एक ही योद्धा रह जाता है, अर्थात् बाकी ९९ भेड़े है।"

"और, इन्हीं भेडों में से कुछ जब तुर्कों में जा मिलती है, तब उन्हें शेर बनते देर नही लगती।"

"आपका संकेत वाराणसी के तन्तुवायो की ओर है, जो अब म्लेच्छों के धर्म में चले गए है और जो हिन्दुओं को काफिर मान कर उनके सौ के मुकाबले में एक को काफी समझते है।"

"इसमें क्या शक है?"

"और साहब जी, सौ मे से जो एक तलवार भी उठा सकता है, वह भी आपस की शत्रुता के कारण मिलकर शत्रु से मुकाबला करने के लिए तैयार नही है। वाराणसी पर तुर्कों का अधिकार होने पर महाराज

के निश्चित किए हुए स्थानो पर क्यो युद्ध करने लगा ?
प्रतिस्पर्धा के निश्चित किए हुए स्थानो पर क्यो युद्ध करने लगा ? का पता शत्रु को लग
ो, वह यह भी नही चाहता था कि इसका पता शत्रु को लग
ास्तउसने डोभाव की ओर भी कुछ सवार भेजे, लेकिन अपनी मुख्य
ने ल उसने उत्तर से बहुत आगे बढाया । इसका पता जब लगा,
ार सेस्व को राजधानी के दुर्ग की सहायता लेने के सिवाय कोई चारा
ाए वे गया । सारे राज्य को लूटते-जलाते तुर्क सवार सिसवा के
लवांरपहुचे । लखनदेव ने जम कर लडाई की । उनके योद्धा भली
जाती जानते थे कि पराजय का मतलब सर्वनाश है— हाथ में पडे
' योद्धा पर तुर्क दया नही दिखाएगे । उनके लिए काफिर की
रौंदा तलवार के लिए ही है । दीन के लिए इससे बढकर अच्छी बलि
—नही नही हो सकती । स्त्रिया उनके हाथमें पडकर भ्रष्ट और पराई
जाएगी । पूर्वजो के समय से प्राणो की तरह जिस धर्म को वे
बर्ते आए थे, उसका चिह्न भी तुर्क नही छोडेंगे । जो हालत वाराणसी
भी विश्वनाथ और कालभैरव के मन्दिरो की हुई, वहा के धर्म-
प्रवर्तन (सारनाथ) के विहारो की हुई, वही यहा भी होगी ।
र उनकी सारी बहादुरी का कोई फल नही हुआ । वाराणसी के
ही हृय सारे-के-सारे तुर्क (मुसलमान) हो चुके थे । वे तुर्कों की
र को विजयी देखना चाहते थे । अपने मालिको और सहधर्मियो
फिर वे सब-कुछ करने को तैयार थे । उस समय लोगो के कपडो
'री आवश्यकता इन्हीं तन्तुवायो के करघो से पूरी होती थी,
र उनकी सख्या काफी होनी ही चाहिए थी । वाराणसी अन्त
अब भी अपने कपडो के लिए मशहूर थी । वहा के तन्तुवाय अपने
मिल में बडे कुशल थे । उनके हाथो से बने रेशमी और सूती सुन्दर वस्त्र
खानदानें और भारत के बाहर भी अच्छे मूल्य पर बिकते थे । यद्यपि
नही हैं शूद्र—अर्धहरिजन— थे, किन्तु उनकी आर्थिक स्थिति दीन-
और परी थी, बल्कि कितने तो काफी सम्पन्न थे । उनके आत्म-
और क्षाको बडी ठेस लगती थी, जब वे देखते थे कि हमारे में से
बनने कम और सस्कृततम पुरुष को भी बडी जाति वालो के सामने
के लिएत होना पडता है । शायद इस अपमान को वे विधि का विधान

ही समझते रहते, यदि तुर्कों के साथ तुर्क बन कर आए उनके पश्चिम के भाइयो ने उनकी आखें न खोली होती । अब वे तन्तुवाय की जगह जुलाहा कहा जाना अधिक पसन्द करते थे।

सिसवा राजधानी में तन्तुवायो की काफी सख्या थी। उनमें से कुछ के रिश्ते-नाते वाराणसी में भी थे। यद्यपि वहा वाले अब तुर्क हो चुके थे, लेकिन अपने साले-बहनोइयो, नानो-मामों, सगी बहनो, बुआओ को इतनी जल्दी कैसे भूल जाते? जाति ने नियम बना दिया था कि तुर्क हो गए आदमियो को बहिष्कृत समझा जाए। उनके साथ खान-पान करने वाला भी तुर्क माना जाएगा, पर इस नियम का पालन अभी उतनी कड़ाई से नही हो रहा था। कुछ तुर्क बने तन्तुवायो को तो तुर्क शासक अब भी हिन्दू के रूप में रखकर उनका उपयोग करना चाहते थे। सिसवा मे ऐसे, भेदिए तन्तुवाय पहुंच चुके थे। वे तुर्क शासको की उदारता और समानता का भीतर-ही-भीतर कितने ही सालो से प्रचार कर रहे थे—"तुर्क हो जाने पर हमारे अगुवा सिपहसालार के साथ एक दस्तरखान पर खाना खाते हैं– एक पाती में पूजा करते हैं। हमारी लड़कियों को ऊचे-से-ऊंचा तुर्क अधिकारी अपनी बीवी बनाने के लिए तैयार है!" आदि-आदि।

प्रतिरक्षा केवल ईंटो और दीवारो, तीरो और तलवारो से नही होती– उसके लिए आदमियों की भी ठोस ईंटें चाहिए। सिसवा की कितनी ही ईंटें खिसक चुकी थी। तुर्कों के भेदिए अपने काम में सफल हो चुके थे। दुर्ग के भीतर रक्षा का कहां-कैसे प्रबन्ध है और क्या हो रहा है, इसकी एक-एक बात दुश्मन के पास पहुंच रही थी। सैयद अकरम को बहुत समय तक वत्स-वच्छवल्ली (वछवल) में प्रतिरक्षा नही करनी पडी। एक अंधेरी रात को थोडे-से तुर्क सैनिक नगर के भीतर के अपने पक्षपाती तन्तुवायो की सहायता से प्राचीर फाद कर भीतर घुसने में सफल हुए। उनकी सख्या शत्रुओ के सामने कुछ भी नही थी, लेकिन रात के अंधेरे में वहां संख्या गिनने वाला कौन था? उन्होंने उत्तरी फाटक पर पहले अधिकार कर उसे खोल दिया। यह कहने की आवश्यकता नही कि उस रात को सिसवा वाले घास-मली की

तरह काटे गए। कौन सैनिक है और कौन असैनिक, यह जानने की किसी को फुर्सत नहीं थी। सुबह होने के पहले सिसवा वालो का प्रतिरोध बहुत निर्बल रह गया था। सारी तुर्क सेना गढ के भीतर पहुंच चुकी थी। राजप्रासाद और धनियो के घरो को लूटकर उन्होने बहुत-सा धन इकट्ठा कर लिया और जिन घरो से कुछ भी प्रतिरोध हुआ, उनमें आग लगा दी। धन लूटने के साथ-साथ उन्होने सिसवा की सुन्दरियो को भी बडी सख्या में जमा कर लिया। पर सैयद अकरम को यह सब देखकर भी उतनी प्रसन्नता नही हुई, क्योकि मरे हुओ में लखनदेव की लाश का कही पता नही था। लखनदेव अब भी जीवित है। वह साधारण शत्रु नही था। यद्यपि उसको उसने सालो तक परेशान नही किया, लेकिन उसका युद्ध का कौशल और सैनिको का बल नगण्य नही था।

जिन्होने गढ के भीतर घुसने में सैयद अकरम की मदद की थी, उनसे लखनदेव की कोई बात छिपी नही थी। पता लगा, वह अपने कर्नहट के प्रासाद में जाकर मुकाबला करने की तैयारी कर रहा है। सैयद ने अपने छोटे भाई मकरम को कुछ सैनिक देकर गढ में छोड दिया और स्वय कर्नहट की ओर बढा। वह तो राजधानी का ही एक भाग था। जाने में देर क्या लगती? कर्नहट को भी लखनदेव ने एक कोट का रूप दे रखा था, जहा बचे-खुचे आदमियो को साथ लेकर वह तैयारी कर रहा था। जब सिसवा का गड मुकाबले में ठहर नही सका, तो यह क्या ठहरता? इस बार लडाई दिन में हुई और ६०-साला लखनदेव ने जिस बहादुरी का परिचय दिया, उसने देवता भी ईर्ष्या कर सकते है—लखनदेव को सिर्फ इतनी ही सफलता मिली। सैयद अकरम ने सिसवा से कर्नहट को अधिक पसन्द किया, और लखनदेव के कोट में ही रहने का उसने निश्चय किया।

कर्नहट में तन्तुवायो, धनको-जैसी शिल्पी जातियो की सख्या बहुत नही थी, पर चूडी बनाने वाले चूडीहार और दर्जी काफी सख्या में यहा रहते थ। कोइरी, सोनार, लोहार, बढई-जैसे लोग भी थे। यद्यपि ये बड़ी जातियों की दृष्टि में नीच थे, पर उतने नहीं, जितने शि

तन्तुवाय, चूडीहार, आदि । सैयद अकरम के कर्नहट में आते ही वहां के चूड़ीहारों, सूचिकारो, आदि की अपनी जातीय पंचायत बैठी। वाराणसी से आए उनके जाति-मुखियो ने तुर्कों के धर्म, शासन और शक्ति की महिमा बतलाई और यह भी, कि हमारे वाराणसी के सारे जाति-भाई अब तुर्क धर्म में दीक्षित हो गए है, इसलिए तुम्हें भी उसी को स्वीकार करना चाहिए । शताब्दियों से जिस धर्म को वे मानते आए थे, उसे एक दिन में वे कैसे छोड़ सकते थे ? उनको मनुष्य से भी ज्यादा अपने देवताओ का डर था। मनुष्यो में तो वे जानते ही थे, कि सबसे सबल तुर्क हैं, और अपनी जाति में कोई उगली तभी उठा सकता है, जबकि वह तुर्क न हो और अपनी बहुसंख्यक जाति का बल उसे प्राप्त हो। उनके जिन मन्दिरों में वे भीतर या बाहर से पूजा करने जाते थे, उनमें से किसी एक भी मूर्ति को तुर्कों ने खण्डित किए बिना नही रखा था । मूर्तियो को खण्डित करके वे दिखलाना चाहते थे कि तुम्हारे देवता झूठे है, और केवल हमारे अल्लाह की तलवार ही सच्ची है। कर्नहट के विहार के महाकाल अब टुकड़े-टुकडे थे । शिल्पकारो में काफी सख्या बौद्धो की थी और दूसरी बड़ी-छोटी जातियो मे भी बौद्ध-धर्म वालों की कमी नही थी, यद्यपि उस समय किसी जाति के बारे में नही कहा जा सकता था कि वह एकान्तत बुद्ध या ब्राह्मणो की अनुयायी है । सहस्र वर्ष पहले जिन देवमूर्तियो की स्थापना हुई थी, वे भी सैयद अकरम की देहली में पडी हुई थी, जिन पर पाव रखकर लोग भीतर आते-जाते थे। देवता इतने निकम्मे साबित होगे, इसका किसी को खयाल नही था । सो, बहुत दिन नही लगे, जब कर्नहट के चूड़ीहारो, सूचिकारों और बुनियों ने तुर्क धर्म को अपनी पचायत के निर्णय के अनुसार स्वीकार किया । उनके फिर इस्लाम से हट जाने का डर नही हो सकता था । जब गोमास उनके मुंह मे पड चुका, तो कौन उन्हे हिन्दू मानने के लिए तैयार था ? सैयद अकरम ने गोमास के कच्चे टुकड़े मंगाए और उनको हरेक घर के मुखिया के मुह में एक-एक क्षण रखकर हटा लिया । अब

शिल्पकार सदा के लिए हिन्दुओं के विरोधी और विदेश से आए तुर्क शासको के अत्यन्त फरमाबरदार बन गए।

(३)

सैयद अकरम ने आरम्भ के कुछ वर्षो में ही तलवार का जौहर दिखलाया। प्रतिरोध अधिकतर सम्पत्तिशाली, अर्थात् बड़ी जाति के, लोगो ने था। वे बड़ी संख्या में तलवार के घाट उतारे गए, उनके घरो को जला दिया गया। इज्जत जाने का इतना भय था कि उनमें से बहुतेरे अपना देश छोडकर सुदूर सरजू-पार या दूसरी जगहो मे भाग गए। उनके घरो का कुछ ही दिनो में पता नही था। सैयद के सुर्खरू बनकर अपनी जगहो पर सारे अत्याचार और अपमान को सहने के लिए बहुत कम लोग रह गए। हरिजन और अर्ध-हरिजन प्राय. सम्पत्ति से वचित थे। उन्हें अपने हाथो की कमाई पर जीना था। ऐसे लोगो को खत्म करना या बराबर छेडते रहना कोई भी शासक पसन्द नही करेगा। जिस समय की यह घटना है, उसी समय मध्य-एशिया के बुखारा, समरकन्द-जैसे बडे-बडे नगरो पर चिंगेज खान ने वैसी ही क्रूरता के साथ अधिकार प्राप्त किया था, जैसे भारत में तुर्को ने। फर्क इतना ही था, कि चिंगेज अपनी विजय के साथ दीन-धर्म का नाम नहीं जोडता था। वह सम्पत्तिशाली, ऊपरी वर्ग के, लोगो का जरा भी प्रतिरोध करने पर कत्लेआम करता था। लेकिन इसके लिए जब वह पुरुषो को शहर से बाहर निकालता, तो शिल्पियो को अलग करके पहले अभयदान दे देता। सैयद अकरम के शासन-केंद्र के आस-पास हिन्दू शिल्पी, सोनार, लोहार, बढई, माली, आदि अब आरम्भिक दिनो को भूलकर अपने काम में पूर्ववत् लगे हुए थे। शत्रुओ के स्वय दूर भाग जाने से अब सैयद निश्चिन्त था।

जवानी की उमर में सैयद अकरम खूंखार जरूर था—और उस समय का कौन-सा सिपहसालार था, जो खूंखार न होता, खासकर जो अपने देश से हजारो मील दूर चला आया था और मातृभूमि के मगोलो के हाथ में चले जाने से वहां फिर लौटने की सम्भावना नहीं थी—पर उमर के बीतते-बीतते शान्ति और निश्चिन्तता से जीवन ने

सैयद अकरम को विलासी बना दिया। उसके हरम में लखनदेव के रनिवास की सुन्दरियां अब उमर में ढल चुकी थी! फिर सैयद को उतने से ही सन्तोष कहा हो सकता था? एक-एक सुन्दरी तो, पहले ही चुन ली गई थी, लेकिन उनके आगम का रास्ता बन्द नहीं था। सालार के दरबारियो में कितनो का काम ही था, सैयद के लिए नई सुन्दरियां जुटाना। कहीं भी किसी सुन्दरी तरुणी का पता लगता, तो उसे सैयद के पास पहुचाने में देर नहीं होती। लोगों ने डर के मारे अपनी लडकियो का तरुणाई से पहले ही व्याह करना शुरू कर दिया। लेकिन सैयद के लिए व्याहता और अव्याहता का कोई सवाल नही था। हां, व्याह होने से जल्दी सन्तान हो जाने की सम्भावना थी और सन्तान वाली स्त्री की कीमत सैयद की नजर में गिर जाती थी। बड़ी जाति वालो ने इसी समय अपनी स्त्रियो की रक्षा के लिए उन्हें जवानी मे पर्दे मे रखना आरम्भ किया।

सैयद ने यह कायदा बनाया था, कि जो भी स्त्री गौने आए, उसे एक रात के लिए कोट में ले जाया जाए। इस नियम का उल्लंघन कितने लोग कर पाए होंगे, यह कहना मुश्किल है। और, जब यह छिपा हुआ भेद हो, और यह भी समझा जाता हो कि इससे धर्म या जाति के जाने का प्रश्न नहीं है, तो कितनों ने ही इसको अपनाकर आत्मरक्षा की होगी, यह निश्चित है। जब सिपहसालार स्वय इस तरह कर रहा है, तो उसके नीचे के दूसरे तुर्क सरदार अपने मालिक के पथ पर थोड़ा भी चलने से कसे बाज आते— विशेषकर जब इस तरह का सम्बन्ध उनके दीन की वृद्धि में सहायक था।

कर्नहट में अब भी पुराने जमाने की कितनी ही पोखर-पोखरियां हैं, जिनमें से बहुतो का रूप इतना बदल गया है कि आज उनको देखकर यह नही कहा जा सकता कि पहले वे किसी दूसरे ही भव्य रूप में रहे होंगे। बड़ी पोखरी, किसी आदमी की खुदवाई हुई किसी छोटी पोखरी-जैसी नही, बल्कि छोटी झील-जैसी मालूम होती है। उसके अतीत के गौरव का कहीं कोई पता नही है, लेकिन धरातल से कुछ हाथ नीचे, सैकडो गज तक, मौर्य-कालीन ईंटों की चिनाई चली गई है। सैयद के

कोट से पूर्व इसी तरह का एक पोखरा दलसागर है। दलसागर का अर्थ है, सेना के लिए बनवाया गया कोई विशाल पोखरा। सागर छोटे या मझोले पोखरे का नाम नही होता। आजकल के उसके छोटे-से आकार को देखकर यह नाम मजाक-सा मालूम होता है। साधारण सागरो को तो छोड़िए, इस दलसागर का पानी भी वर्षा के बीतने के कुछ ही हफ्तो बाद सूख जाता है। पर सैयद अकरम के समय दलसागर काफी बडा पोखरा था, जिसे लखनदेव के किसी पूर्वज ने अपनी कीर्ति अमर करने के लिए ही नही, बल्कि घोडे-हाथियो की सेना के उपयोग के लिए खुदवाया था।

गर्मी का महीना था, जिसमें आदमी—विशेषकर यात्री—को सबसे प्रिय होता है, जलाशय और उसका जल। उत्तर मे बडुवर—भद्रपुर, बडौरा—से एक ढकी डोली के साथ-साथ कुछ आदमी दक्षिण की ओर जाते दिखाई पडे। दोपहरी इतनी तपी हुई थी कि वे दलसागर के करीब पहुचकर उधर मुडने से अपने को रोक नही सके। कहारो की प्यास से बुरी हालत थी। शायद वे लोग काफी दूर से आ रहे थे और काफी दूर जानेवाले थे। दलसागर के पश्चिम वाले घाट पर कहारो ने डोली रख दी। साथ के सरदार भी वही उतर पडे। आम की छाया सिर पर बहुत प्रिय लगती है। दलसागर मे उतर, कुछ लोगो ने हाथ-मुह धोया और कुछ ने स्नान भी किया। ना-नीजर दोपहरी बिताकर वे वहा से जाना चाहते थे। पर अभी वे स्नान से हाथ ही लगा रहे थे कि उनके पास चार प्यादे पहुचे। आते ही उन्होने कहारो से कहा—"डोली को कोट मे ले चलो।" उसके बाद ही हाट से निकलकर कुछ और भी आदमी आ गए। हाट दलसागर के पास तक बनी हुई थी। उन्होने भी कहा—"हर डोली को एक रात के लिए कोट में जाना पडता है। यही सैयद साहब का हुक्म है।" ऐसा कहने वाले हिन्दू थे। उनमें से एक ने मुखिया सरदार (जो गुद वर था) को अलग ले जाकर समझाया—"आपको इधर से नही आना चाहिए था। क्या सैयद के अत्याचारो का आपको पता नही था? अब आ गए, तो इसके सिवा कोई चारा नही है। अभी और भी निशानी [illegible]

रहे हैं। हथियार लेकर इनका मुकावला नही किया जा सकता। सैयद-राज्य के सभी हिन्दू ऐसा करके ही अपने प्राणों की रक्षा कर रहे है। आगे आपकी जो मर्जी।"

दूल्हा अपनी पत्नी को गौना कराकर ले जा रहा था। वह सैयद के राज्य के वाहर दक्षिण मे किसी जगह का रहने वाला था। उसे सैयद के अत्याचारो का पता नही था, नही तो ऐसी गलती हरगिज़ नही करता। अपने साथियो से उसने सलाह की। यही मालूम हुआ कि लड़ते हुए मरकर भी हम अपने सम्मान और धर्म की रक्षा नही कर सकेंगे। अव तक सैयद के और कितने ही प्यादे आकर डोली को घेर चुके थे। तरुण अपने ब्राह्मणत्व के सम्मान को अपने प्राणो से भी वढ़कर समझता था। एक रात अपनी पत्नी को सैयद के कोट में रखकर वह फिर उसे ले, कौन मुह से अपने घर जाएगा? दूसरे चाहे वहां भेद न भी खोलें, लेकिन उसका मन कैसे इस अपमान को जीवन-भर के लिए सह सकेगा? उसने प्यादों से कहा:

"हम आप लोगों के अधीन हैं। सैयद साहव से लड़ने की न हमारे पास शक्ति है और न हिम्मत। राजा लखनदेव उनस लड़कर सफल नही हुए, तो हमारी क्या मजाल है। हम डोले को कोट में भेजने के लिए तैयार हैं। पर, नई दुल्हन है—उसको कुछ पता नही है। वह अकेली जाकर घवरा उठेगी और न-जाने फिर क्या कर वैठेगी। इसलिए मुझे उसे समझा लेने-भर की छुट्टी दीजिए।"

सैयद के आदमियो को इसमें क्या एतराज़ हो सकता था। वे डोले के पास से हट गए और ब्राह्मण तरुण को अपनी पत्नी से वात करने की छुट्टी दे दी। डोली के पर्दे में वैठकर तरुण ने अपनी पत्नी को सारी स्थिति वतलाई और कहा कि तुम्हारे कोट में जाने से पहले मैं अपने पेट में कटार मार लेना चाहता हूँ।

पत्नी घवराई। सैयद के कोट में एक रात रह कर वह अपने पति के साथ सती होने के लायक भी तो नही रह जाएगी। उसने आंसू वहाते हुए, पर दृढता के साथ कहा—"आपका कहना ठीक, है। धर्म खोकर अपमान सहने से मर जाना अच्छा है। पर मुझे धर्म खोने के

लिए क्यों छोडते हो । पहले मुझे खत्म कर दो और फिर अपने-आप को कटार मार लो।"

इतनी बात चीत के बाद पत्नी की छाती में कटार घुसेड कर, उसी खूनी कटार को अपनी छाती में घुसेडने में यद्यपि बहुत देर नही लगी, पर उसके बाद जब ब्राह्मण को देर तक आते नही देखा, तो प्यादों ने डोली के पास पहुचकर पुकारा। कोई जवाब न पा पर्दे को हटाया, तो देखा, वहा दोनो मरे पडे हैं—उनकी छाती से अब भी खून की धार बह रही है।

सैयद के कोट में डोला नही जा सका। कर्नहट के लोगो मे एक विचित्र उत्तेजना फैली। हिन्दू आपस में इनके लिए इतना अफसोस कर रहे थे, जैसे उनके घर का आदमी मारा गया हो। वे दोनो तरुणो की धर्मनिष्ठा की प्रशसा कर रहे थे। मुर्दो से सैयद का कोई वास्ता नही था। कर्नहट के लोगो ने दोनो की लाशें एक चिता पर मूक सवेदना और सम्मान के साथ जला दी। उनका आत्मोत्सर्ग ऐसा नही था कि भुलाया जाता। किसी ने दलसागर के उसी स्थान पर मिट्टी की दो छोटी-छोटी पिंडिया बनाकर रख दी, जो प्रति बरसात मे पिघल कर विकृत हो जाती, और बरसात के अन्त में कोई अज्ञात हाथ उन्हें फिर बना देता। सैयद के समय तक किसी की हिम्मत नही हुई, कि वहा ऐसी पिंडिया बनाता, जो एक बरसात से अधिक ठहर सकती। सैयद मर गया, उसके वशज भी कर्नहट के कोट में नही रह गए, तब किसी ने मिट्टी की दो बडी पिंडिया ब्रह्म और ब्राह्मणी के नाम से बनवा दी। पहले भी लुक-छिपकर कोई सतानी के लिए दूध की धार दे जाता था—अब वह खुल कर चढने लगी। कितने ही सदियों बाद किसी ने उन पिंडियो के पास बरगद का पौधा लगा दिया जो पीछे बढकर एक बड़ वृक्ष के रूप में परिणत हो गया।

उपसंहार

दलसागर के किनारे इस बट के नीचे इन दोनो पिंडियो को देखकर आज के कनैला के रहने वालों के दिल म यह नाम [illegible]

भीषण घटना जागृत हो जाती है। आज भी दूध चढाने की मनौती मानी जाती है। लेकिन, वह गाव-भर तक ही सीमित है। भूत भगाने और दूसरे चमत्कारो में दलसागर के वरम-वरमाइन ने कोई करामात नही दिखाई, इसलिए वहा कोई वड़ा स्थान नही वन सका। पिंडिया पहले की तरह अव भी मिट्टी की ही है।

लेकिन पूजा केवल इन्ही दोनो पिंडियो की नही होती। कर्नहट का वाज़ार कव का विस्मृत हो चुका। सैयद के कोट के वहुत-से भागो पर अव खेत है, जो वहुत ही उपजाऊ माने जाते है और जिनके ऊपर अव शताब्दियो से वंचित छोटी जाति वाले भी अपना अधिकार मनवाना चाहते है। इन्ही खेतो में, जैसा कि पहले वतलाया, थोड़े-से पाच-चार गज लम्वे-चौडे टीले को छोटा कोट कहते है। यहा के नीम और झाड़ियों को इस शताव्दी के आरम्भ में कोई हानि पहुचाने की हिम्मत नही करता था। इन्ही कटीली झाड़ियो के ऊपर लताए छाई हुई थी, जिनमें मौसम के समय लाल-लाल पके विम्व के फल दिखलाई पड़ते थे। झाडी के भीतर दो-चार ईंटे है, जो आकार से वहुत पुरानी नहीं कही जा सकती। सैयद अकरम की कोट की वैठक शायद यही रही हो। इन्ही ईंटो को 'सैयद की कव्र' या 'सैयद वावा' कहा जाता है, जहा चूड़ीहार और दूसरी मुसलमान-जातियो के लोग ही घी-मलीदा नही चढाते, वल्कि हिन्दू स्त्रिया भी पूजा करने जाती है। उनका विश्वास है कि सैयद वावा मनोकामना ज़रूर पूरी करते है। कनैला के मथुरा पाण्डे ने इस शताब्दी के आरम्भ में सैयद की महिमा वढाने में काफी हाथ वटाया था। हो सकता है कि उन्होने अपने पूर्वजों का अनुसरण किया हो। वह गांव के एकमात्र और प्रसिद्ध ओझा—सयाना—थे, जिनके पास आश्विन-नवरात्रि में आस-पास के भी कितने ही लोग—विशेपकर लुगाइया—अपना दु ख दिखाने आती थी। भूत भगाने में उनकी काफी ख्याति थी। उनके खेत सैयद के कोट के पास थे, इसलिए वे कितनी ही वार अपनी आखों-देखी वाते वतलाते थे। कहा करते थे—"आधी रात की चांदनी में सैयद अपनी नीली घोडी पर चढकर निकलते है। घोड़ी की हिनहिनाहट की आवाज़

दूर तक सुनाई देती है । फिर चारो ओर घूमकर कभी-कभी अपने भाई—मकरम—के पास मकरनपुर जा, मिलकर लौटते और अपनी कोट में समा जाते हैं ।" मथुरा पाण्डे का कहना था कि सैयद के सामने कोई भूत-बलाय नही ठहर सकती। सैयद के मुकाबले में वे महावीरजी को ही मानते थे । पर उनका कहना था, कि जब सैयद थूक देता है, तो उससे भ्रष्ट होने के डर से महावीरजी भी हट जाते हैं ।

जो भी हो, आज सैयद वे सैयद नही रहे, जिन्होने लखनदेव को परास्त किया था और दलसागर-काण्ड रचा था। आज हिन्दू और मुसलमान, दोनो उनकी पूजा में होड करते है । बरम-बरमाइन—भी पूजे जाते है, लेकिन उनके पूजक केवल हिन्दू है ।

गोपी चपरासी

विष्णु प्रभाकर

एकाएक देखने में वह एक छोटा-सा प्रभावहीन व्यक्ति लगता था। न शरीर में ओज, न वाणी में प्रखरता। पर वास्तव में, स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। गेहुंए वर्ण की नाटी-छरहरी देह, पतला मुख, मिचमिची आंखे बिल्ली की-सी मूछें और वैसी ही गतिविधि—इस क्षण इधर ऊंघ रहा है, तो उस क्षण उधर दौड़ रहा है। वाचाल ऐसा कि नीद में भी क्रियाशील। घुटनो तक की धोती; सिर पर पतला-सा मुडासा, जो अब खुला अब बंधा; बदन पर कुरता या कमीज; कन्धे पर गमछा, धोती या चादर—शोभा के लिए इतना नही, जितना घर जाते वक्त कुछ-न-कुछ ले जाने के लिए—और कुछ नहीं, तो घास, बुरादा या मिट्टी ही सही। हाथ में वह लकड़ी अवश्य रखता, क्योकि उसे कुत्तों से डर लगता था। विशेष अवसरों पर सरकारी लम्बा कोट पहनता और पेटी भी बांधता, जिससे कुछ लम्बा लगने लगता।

वह जाति का गूजर था और इसी नाते छोटी-बड़ी अनेक चोरियो के सम्बन्ध में थाने में उसकी पेशी होती रहती, और जैसा कि सदा से होता आया है, वह पिटता भी; परन्तु तत्कालीन पंजाब की वह खूंख्वार पुलिस उसे एक बार भी अपने चंगुल में नही फसा सकी—शायद प्रमाण के अभाव के कारण, शायद बड़े बाबू की दया के कारण, या फिर शायद जेब गर्म हो जाने के कारण। यू उसने कई बार चोरी का इकबाल भी किया था, पर अपनी निराली अदा से। वह ट्रेड-यूनियनो

का युग नही था, फिर भी चपरासी लोग मिल बैठते और तम्बाकू के धुएं के साथ-साथ अपने दु ख-दर्द को उडाने की चेष्टा करते । ऐसी ही एक सभा में एक दिन उसके एक साथी ने कहा—"–और रही चोरी की बात ! किसी के घर डाका मारने कौन जावे है ? यू खेत मे से घास-पात तुम भी लाओ ही हो ।" गोपी तुरन्त अपनी ठेठ हरियानवी भाषा मे बोला—"हा, लाऊ सू । इसमें लुकाण की के बात सै और लाऊं कोना । दिके बाबू लोग रोज जेब भर के नावा लावे सैं । सच कहूं सू । सच कहू सू, तनखा बाट्टण की बेरा अगूठा पहलो ही लगवा लै और पैसे देण के वक्त किसी-किसी गरीब कू ऐसा दुत्कारे, ऐसा दुत्कारे कि बेचारा मुह ने ताकता रह जा सै । इस सत्यानासी राज मे कम अन्धेर ना सै, पर बेमाता ने अंग्रेज सरकार की तकदीर मे न जाणे के लिख दिया सै, दिण दूणी रात चौगुणी तरक्की करे जा सै । गान्धी बाबा की कुछ भी पार न बसावै ।"

वह जीवन-भर चपरासी रहा । बीसवी सदी की दूसरी दशाब्दी मे शायद तीन-चार रुपए माहवार पर वह नौकर हुआ था और जब उसे अवकाश दिया गया, तो महगाई भत्ता मिलाकर लगभग ३२-३३ रुपए पाता था । लेकिन इसी आमदनी में उसने लड़की गोद ली और मुट्-छूट घी, बूरा खिलाकर उनके हाथ पीले किए । उसके कोई औलाद नही थी । लोगो ने आपत्ति की—"दुनिया लड़का गोद लेती है, जिससे नाम चले, पर तुम नई चाल डाल रहे हो ।"

उसने जवाब दिया—"देखो जी ! नाम चलता किसने देखा है ? लड़का साले की निगाह माल पर रहे है कि कब बाप मरे और मैं मालिक बन ।"

"और लडकी ?"

"लड़की सदा यही मनाती रहे कि मेरा बाप जितनी देर बैठा रहे, उतना ही अच्छा है । कुछ-न-कुछ मिलता ही रहेगा ।"

उसके तर्क सदा ही मौलिक होते थे । एक दिन वर्षा की ऋतु मे मैं हवा-पानी का तार तैयार करने में लगा था कि उसने पूछा—"क्यों बाबूजी, कुछ बारिश का डोल है ?"

मैंने कहा—"आज तो आंधी के आसार हैं ।"

वह हँस पड़ा—"भगवान् भी बड़े हँसोड है। पानी की चाहना है और आंधी भेज रहे है।"

फिर एक क्षण. रुक कर कहा—"बाबूजी, हम करम ही ऐसे करे है। चोरी जारी··और बाबूजी, आपने कुछ सुना ?"

"क्या ?"

"मगला है न ? अपने दफ्तर मे काम कर चुका है। पांच सौ रुपए में अपनी छोकरी बेच आया। ऐसे जुल्म होने लगे हैं। तब भगवान् न्याव क्यो न करें····"

मैंने कहा—"लेकिन गोपी, सभी पापी थोडे है ?"

गोपी बोला—"ना हो, गेहू के साथ घुन तो पिस्से ही है।"

यही क्यों, एक बार एक ठेकेदार ने चना देने का ठेका लिया था। बडा ठेका था और उन दिनो आसानी से किसी की आंखो मे धूल भी नही झोकी जा सकती थी। स्वय सबसे बड़ा अफसर माल की जाच-पडताल करता था। इसीलिए जब ठेकेदार ने फार्म के आंगन में चने के ढेर लगवा दिए, तब कर्नल पूरे अमले के साथ निरीक्षण करने आया। कई क्षण वह घोडे पर चढा इधर-उधर घूमता रहा, फिर एकाएक बोल उठा—"हम यह माल नही लेगा।"

जैसे वज्रपात हुआ। बूढे ठेकेदार के काटो, तो खून नही। गिड-गिडाकर बोला—"हुजूर··· "

"हम कुछ नही जानटा।" कहते-कहते वह घोडे पर से उतरा और एक ढेर में से कुछ फलिया उठाकर बोला—"हमने चना मागा ठा, यह कूडा नही ! यह क्या है ?"

निमिप-मात्र में सारा आगन निस्तब्ध हो आया। अब माल के नामजूर होने में कोई सन्देह नहीं। कर्नल उसी आवेग मे उन फलियों को बूढे ठेकेदार की नाक के पास ले गया और कड़ककर बोला—"हम पूछटा, यह सब क्या है ?"

बूढ़ा ठेकेदार कापने के अतिरिक्त और कुछ नही कर पा रहा था। कर्नल ने अपना प्रश्न फिर दोहराया। तभी सहमा गोपी बोल उठा—"हजूर ! यह चने की मां है।"

एक साथ सबके नयन उसकी ओर उठ गए। कन्धे पर दुपट्टा डाले, हाथ में लकड़ी लिए, वह मुस्कराता हुआ खड़ा था। कर्नल उसकी ओर देख रहा है, यह जानकर उसने बड़े अदब से कहा—"हुजूर यह चने की मा है। इन्हीं के पेट मे चने पैदा होते है।"

आगे कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ी। कर्नल ठहाका मारकर हँस पड़ा, बोला—"ठीक-ठीक, तुम ठीक बोला।"

और, वह आगे बढ़ गया।

अक्षर-ज्ञान से आदमी पढ़ा-लिखा माना जाता है, पर सहज ज्ञान से आदमी बुद्धिमान बनता है। गोपी की सहज बुद्धि अक्सर पढ़े-लिखों को पछाड़ देती थी। वह हँसता भी खूब था, ऐसी सुन्दर हँसी कि पँचकल की तरह चीरती चली जाए, पर क्या मजाल [illegible] कोई [illegible] सके। सन १९३१-३२ के बाद दफ्तर में अक्सर तूफान मचा रहता। काम बहुत, आदमी कम—सो, सब उत्तेजित। इस उत्तेजना मे अक्सर ऊपर वाला नीचे वाले को, नीचे वाला और नीचे वाले को [illegible] ही पीसने को आतुर हो उठता। इन्हीं दिनो एक दिन बड़े बाबू तीव्र गति से साहब के पास से आए और गोपी से बोले—" [illegible] बड़े [illegible] से [illegible] कि मुझसे मिले।"

गोपी ने पूछा—"कब मिले?"

"मैं कहता हू, मुझसे मिले। जरूरी काम है।"

"जी हा। मैं अभी जाता हू, पर वह कब आएं?"

कई बार इस प्रश्न की पुनरावृत्ति होने पर बाबू तीव्र स्वर में बोले—"कम्बख्त! सुनता नहीं? बारह बजे मिले।"

गोपी लाठी उठाकर बाहर की ओर लपका ही था कि लौट पड़ा। घड़ी में तब चार बजे थे। उसने बड़े बाबू से पूछा—"जी, [illegible] बारह बजे आने को कह न?"

यह सुनकर शून्यचित्त बड़े बाबू की हुंकार यदि [illegible] कर जाती, तो स्वाभाविक ही था, पर ऐसा हुआ नहीं। उन्होंने [illegible] आग्नेय नेत्रों से गोपी की ओर देखा, तो [illegible]

था। न-जाने क्या हुआ कि बड़े बाबू मुस्करा पड़े, बोले—"जा-जा, कल दिन में बारह बजे आने को कहना।"

कभी-कभी यह हँसी अनायास ही बड़ी निर्दय हो उठती। शायद पहले महायुद्ध के दौरान की बात है। बडे बाबू की माताजी का देहान्त होने पर वह उनके फूल लेकर गंगाजी गया था। सब धार्मिक कृत्य हो जाने पर उसने एक भोजनालय खोज निकाला। उन दिनो चवन्नी खुराक का नियम था, लेकिन कुछ देर बाद ढाबेवाले ने पाया कि यह नया ग्राहक तो उस सीमा को कभी का पार कर चुका है। उसने हाथ खीचना शुरू किया—दाल मांगे तो ना, साग मागे तो ना, चटनी मागे तो ना। आखिर गोपी ने कहा—"रोटी तो है?"

ढाबेवाले ने कहा—"ठहरो, अभी लाते हैं।"

इधर गोपी था कि पूर्ण शान्त—तनिक मैल नही, तनिक व्यग्रता नही! नमक के साथ ही पच्चीसवी रोटी को उदरस्थ किया और कहा—"रोटी लाओ, भाई।"

अब तो ढाबेवाले का बांध टूट गया। स्पष्ट शब्दो मे उसने कहा—"अब रोटी नही मिलेगी!"

"क्यो भाई?"

"एक थाली में आठ से अधिक रोटियां नही होती।"

"लेकिन हमारी बात तो खुराक की तय हुई थी।"

ढाबेवाला उठ खड़ा हुआ—"कुछ भी हो, अब और नही दूगा।"

गोपी बैठा रहा—"मै भी खुराक पूरी करके उठूगा।"

बात बढ़ी, भीड़ बढी। एक सज्जन ने पूछा—"कहा के रहने वाले हो, भाई?"

गोपी ने अपनी ठेठ बोली में जवाब दिया—"हरियाणे का गुज्जर सूँ।"

तब वह सज्जन ठहाका मारकर हँसे, ढाबेवाले से कहा—"पूछ कर सौदा किया करो। हरियाने के लोग हमारी तरह पाच-छ. फुल नही खाते, खुराक खाते हैं। अब तक दुनिया को लूटता रहा है, आ लुट कर भी देख। चल, अब खिला अपने ताऊ को।"

वह काम कितना करता था, इसकी कल्पना भी आज कोई नहीं कर सकता। सवेरे आठ बजे दफ्तर पहुचता, तो वहीं रात के आठ बज जाते। फिर बडे बाबू के घर का काम, छोटे बाबुओ के खाने की व्यवस्था। "ओ गोपी ? गोपी, कहा गया रे ?" "ओ गोपी, दूध लाया ?" "गोपी, यह ले जा।" "गोपी, वह ला।" "गोपी, खाना ले आया ?" "अरे गोपी, आज घर काम करूगा। बस्ता ले जाना।......"

गोपी कभी पूरी बात न सुनता, लेकिन क्या मजाल कि कभी काम में चूक हो जाए। यू मन में आता, तो बैठे-बैठे सो जाता, फिर भले ही तूफान उठे या भूकम्प आए, उसे चिन्ता नहीं। फिर एकाएक 'हरे राम, हरे राम' करता हुआ ऐसे उठता, जैसे बडी देर से काम कर रहा है। इतनी तेज़ी से कागज इधर-उधर करता कि फिर भूकम्प आ जाता। इसकी शिकायत, उसकी निन्दा, उस बाबू ने समय पर काम नहीं किया, उस ठेकेदार ने इस बार माल बहुत खराब दिया है और बाबू जी... बाबूजी परेशान, झुझला रहे हैं; लेकिन गोपी है कि बोले चला जा रहा है, बोले चला जा रहा है।

एक दिन उसने क्या किया कि ठीक इस हाहाकार के समय बडे बाबू का दूध लेकर उनके पास पहुचा—"बाबूजी, दूध पी लो।"

बडे बाबू भरे बैठे थे, चीखकर बोले—"कम्बख्त, यह काम करने का वक्त है, या दूध पीने का ?......"

तुरन्त गोपी ने कहा—"बाबूजी ! आप दोपहर को खाना नहीं खाते। अब दूध भी नहीं पीते ! आखिर हाथ-पैर.... ."

"मैं कहता हू, तुझे इन बातो से क्या मतलब ?"

"बाबूजी .."

"कम्बख्त ! शोर न मचा। ले जा इसे। नाली में डाल दे, या बिल्ली को पिला दे।"

गोपी बडबडाता-झुझलाता लौट गया। कुछ देर बाद दफ्तर में अपेक्षाकृत शान्ति हुई, तब बडे बाबू को दूध की याद आई, पुकारा—"ओ कम्बख्त गोपी ! कुछ तो सोचा कर, सवेरे का भूखा हूं। दूध कहा है ?"

गोपी ने तुरन्त लकड़ी-चादर सम्भाली और बाजार की तरफ लपका। हतप्रभ-क्रुद्ध बड़े बाबू बोले—"उधर कहा जाता है ?"

"दूध लाने । यह आया दो मिनट में ।"

"लेकिन वह दूध···?"

"जी, वह तो बिल्ली को पिला दिया । बेचारी भूखी थी ।"

और, वह यह जा, वह जा । इधर बाबू जी यह उबले, वह उफने !

गोपी एक अद्भुत इन्सान था। प्रसन्न हो, तो प्राण अर्पण कर दे—अप्रसन्न हो, तो जन्म-जन्म का शत्रु । कोई दो शब्द प्यार के बोल दे, दो पैसे की चीज हाथ पर धर दे—बस, गोपी उसी का । एक बार माताजी बीमार पड़ी । दवा के लिए किमी छाल या बूटी की आवश्यकता थी । वह आसानी से प्राप्य नही थी । लेकिन गोपी ने, जब कहा, तभी लाकर दी । कष्ट की, कभी चिन्ता नही की, कह देता था—"विशनू की मा । तेरे लिए जान भी हाजिर है ।"

उसकी जान न-जाने किस-किस के लिए हाजिर रहती थी । वे आजकल के-से दिन नही थे । छुट्टियों में भी बाबू लोगो को दफ्तर जाना होता था । कभी न जाते, तो बुलावा आ जाता । एक रविवार को मैंने भी निश्चय किया कि आज नही जाऊंगा, कहानी लिखूगा ।

लेकिन जैसे ही पहला अक्षर लिखा, गोपी ने आवाज़ दी—"बाबूजी !"

मैं क्रुद्ध-कम्पित बोला—"क्या है ?"

"साहब ने सलाम दी है ।"

"पर आज तो रविवार है ।"

वह हँस पडा—"बाबूजी, आप भी कैसी बात करते है । छुट्टी तो रजिस्टर में लिखने के लिए होती है । उठिए, साहब को अभी जाना है ।"

मैंने तीव्र स्वर में कहा—"जाकर कह दो, मैं नही आऊंगा ।"

तब तक वह आराम मे चारपाई पर बैठ चुका था । मेरी बात अनसुनी करके उसने मेरी मां से कहा—"विशन की मां ! ला री, एक रोटी ।"

मां बोली—"एक क्यों, पेट-भर खा ।"

"बस एक, विशनू की मां । पेट क्या रोटी मे भरे है । वह तो, बावली,

प्यार की वात मे भरे है। तू दो वोल मीठे बोल दे है, वस भरा रहू हू ।"

और फिर, जल्दी-जल्दी रोटी खाकर वह उठा। मेरे पास आया—"बावूजी, आराम करो, साहब से मै निवट लूगा।"

न-जाने कितनी वार कितनो के साथ ऐसे अवसर आए, पर क्या मजाल, वह कभी चूका हो।

समाज के तथाकथित निचले स्तर का वह प्राणी निश्चय ही अनगढ और अनपढ था, पर उसका मस्तिष्क उर्वर था। उस उर्वरता का उपयोग वह शिव और शैतान, दोनो की साधना के लिए करता था। वह किसी का होना जानता था, तो किसी को परेशान करना भी जानता था और करता था। वह अपना मूल्य चाहता था। वह मनुष्य जो था! पर ऐसा मनुष्य, जो सबसे पहले काम करने में विश्वास करता है। वह बोलता रहता, चलता रहता, पर काम उनका कभी न रुकता—सवेरे शाम, तपती हुई दोपहर, रात के दो वजे का निविड अन्धकार वर्षा, शीत, ग्रीष्म, कभी भी, वावजूद उनके वडवडाने के, उन पर विश्वास किया जा सकता था। हडतालो, प्रदर्शनो और अधिकारो के इस युग में आज न-जाने क्यो, उस अनपट-अकिंचन प्राणी की याद करके मन भर-भर आता है। उसकी हँसी छाती में उफन-उफन उठती है। उसकी अ.ाढ मूर्ति आखो में उभर-उभर आती है। वह चोर हो सकता है, उसे लालची भी कहा जा सकता है, फिर भी उसमें ऐसा कुछ था, जो मनुष्य को मनुष्य वनाता है। आज वही 'ऐसा कुछ' खो गया है—खोता जा रहा है।

बुझे दीप

विमला रैना

एक छोटी-सी दुनिया उसकी भी थी और वह बड़ा सुखी था अपनी उस दुनिया में। उसका नाम था, गोपाल। वह सुन्दर था, भावुक था और विनोदप्रिय था। लोग उसे भाग्यवान कहते थे। घर म मा थी, छोटा भाई था और जीवन में मुस्कान लाने वाली राधा—उसकी पत्नी। अभी छोटे भाई प्राण का विवाह हुआ था। घर में छोटी-सी, सुन्दर-सी, वहू आई। अम्मा अपनी सुन्दर सुशील वहुओं को देख निहाल हो जाती थी और गोपाल का जीवन एक मधुर संगीत-भरी सरिता के समान इठलाता हुआ चल रहा था।

इधर जीवन-सरिता वही जा रही थी, उधर काल खडा मुस्करा रहा था। एक दिन भयकर तूफान आया और जीवन-सरिता अनायास ही मरुभूमि बन गई। गोपाल की राधा मायके गई हुई थी। गोपाल कार्यवश उसे लिवाने न जा सका। उसने छोटे भाई प्राण को अपनी भाभी को लिवाने भेज दिया। प्राण भाभी को लेकर मोटर से लौट रहा था। मोटर तेजी से चली आ रही थी कि अचानक एक भारी ट्रक से टकरा गई। दुर्भाग्यवश, मोटर में आग लग गई और काल के भीषण अट्टहास से दोनो की जीवन-ज्योति बुझ गई।

गोपाल पर ऐसा आघात हुआ कि वह जीवित ही मर गया। अम्मा पर एक ही पल मे दु:ख का पहाड़ टूट पड़ा। एक ही बार में काल ने उनके छोटे बेटे प्राण और बड़ी बहू राधा को उनसे छीन लिया।

अब घर में बड़ा बेटा गोपाल और छोटी बहू बीना, दो बुझे दीपक के समान रह गए। उनके घर में सहसा अंधेरा छा गया।

छोटी-सी वीना ने एक विधवा का रूप धारण कर लिया। इस वीना के तार टूट गए थे। अब वे कभी झंकृत न होने वाले थे। उसका संगीत कहीं नीरवता की गोद में जाकर सो गया। उसकी आंखों की चमक आंसुओं से बह गई थी। उनमें भय का अंधेरा छा गया था। उसके अधरों की मुस्कान सिकुड़कर केवल रुदन का कम्पन बनकर रह गई थी। उसका हृदय केवल गति का एक यन्त्र बन गया था—भावहीन, लक्ष्यहीन, अर्थहीन। अब उसका जीवन ही व्यर्थ और निरर्थक था—एक भारी बोझ, जिसके भार से वह खुद दबी जा रही थी और गोपाल को भी दबा रही थी। वह स्वयं मानो दुःखद पीडा का साकार रूप हो, भाग्यहीनता का प्रतिबिम्ब हो, शंका और भय की छाया हो। उसे देख, लोगों की मुस्कान क्षीण पड़ जाती थी, हंसी कांप जाती थी, उल्लास मौन हो जाता था। बेचारी छोटी-सी वीना एक अटूट दुःखद रागिनी-सी बन गई थी। वेदना, दुःख और पीडा ही उसके स्वर, गत और लय थे। वह जहां जाती, यह रागिनी उसके पद से झंकृत होती। कभी-कभी वह अपने मन से पूछती—"क्या सती की प्रथा उसकी इस दशा से अधिक भयंकर थी?"

उस घटना को साल-भर बीत चुका था। शोक थककर सो रहा था। पर सोई इन्द्रियां जागने लगी थीं। वे पुनर्जीवन पाने को मचल रही थीं। आंखें अन्धकार को चीरकर बादलों में रंगीन लहरें देखना चाहती थीं। हृदय के यन्त्र में जान आ रही थी। इधर जान आ रही थी, उधर वीना घबरा रही थी—इतना घबरा रही थी कि वह चाहती थी, इस तरह जान आने से पहले वह खुद मर जाए। पर वह बेबस थी। यौवन उसे मरने न देता था। काल भी अपनी भेंट ले निश्चिन्त हो चुका था। वह अब निर्द्वन्द्व हो, वीना के अन्तर्द्वन्द्व का खेल देख रहा था। और, काल के साथ देख रहा था गोपाल। अपना दुःख भूल, वह वीना की व्यथा में घुटा जा रहा था, क्योंकि वह बेबस था। बेबस

था, क्योकि वह समाज का एक अंश था और समाज किसी का दुख-निवारण करने में सदा बेबस ही रहा है।

मां से गोपाल का दु ख देखा न जाता था। दु.ख उन्हे वीना के लिए भी था, पर उस दु.ख पर रो-पीटकर वे संतोष पा चुकी थी। अभागिन के भाग्य को कोई क्या करे? अब साल-भर बीत चुका था। जिस बहू के भाग्य ने उनका बेटा उठा लिया हो, उस बहू से उन्हें विशेष सरोकार न था। विधाता ने उसे विधवा बना दिया। अब कोई क्या कर सकता है? पर उनका बेटा गोपाल? अभी उसकी आयु ही क्या थी? २८ वर्ष का सुन्दर युवक यो बैरागी बना फिरे, इसे वे सहन न कर सकती थीं। वे फिर से उसकी आखो में मुस्कराहट देखना चाहती थी—फिर से उसका घर बसाना चाहती थी, फिर से इस बुझे दीपक में लौ लगाना चाहती थी। वे तो चार महीने बाद से ही पुनर्विवाह की चर्चा करने लगी थी, पर यह चर्चा चलते ही गोपाल उठ कर चला जाता था। अब साल-भर बीत चुका था और अब उनका धैर्य हताश हो रहा था। मां अब उतावली हो रही थी। शोक की भी एक सीमा होती है। अपने छोटे बेटे के शोक को उन्होने स्मृति के गाढ़तम अतल में दबा दिया और बडी बहू के सम्बन्ध में उन्होने ज्ञान से काम लिया—वह तो रानी-सी गई। भगवान् की देन थी, उसी ने ले लिया। अपना क्या चारा है? और, वीना के तो करम ही फूटे थे। कर्म का भोग तो भोगना ही होता है। पर गोपाल? गोपाल के आगे तो दुनिया खडी है! उसे कौन रोक है? मां के विचार से, शायद बेटो का कर्म-भोग नही होता। वह क्यों अपना जीवन बर्बाद कर रहा है? कम आयु के सुन्दर विधुर के लिए ससार में किस बात की कमी थी! ६ महीने भी न बीते थे कि कितने ही घरो से मांगें आने लगी थी। मा ने लड़किया देखनी भी शुरू कर दी थी। दो-चार पसन्द भी आई थी, पर सब बेकार था। उन्होने लाख कहा, लाख समझाया, कसमें दी, रोई-पीटी, झल्लाई; पर गोपाल न मानता था। जैसे-जैसे अम्मा शादी का हठ करती थीं, गोपाल का बैरागी रग गाढा पड़ता जाता था। अब उसने दाड़ी भी बढा ली थी। बाल न कटवाता था। अच्छे कपड़े बक्सो में

पड़े रो रहे थे । वह सादे कपड़ों में ही सन्तुष्ट रहता । वह किसी भी मनोरंजन में सम्मिलित न होता । लोग कहते—वह ऐसे रहता है, जैसे कोई विधवा हो । उसका हठयोगीपन उनकी समझ में न आता था । शायद वह विधवा और विधुर के अन्तर को न समझ पाया था । लोग कहते थे, यह भी अजीब आदमी है । देखो तो कहा गया है कि शोक शुरू में इन्सान को राहु की भांति सम्पूर्ण रूप से ग्रस लेता है, पर समय के साथ उसी तरह घट भी जाता है, जैसे चन्द्रग्रहण धीरे-धीरे हट जाता है । पर यहां तो मामला ही उल्टा था । ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते थे, गोपाल का शोक भयंकर होता जाता था । उसका जीवन केवल एक कार्यक्रम-सा था, जिसके अनुसार रात बीत जाती, सुबह होती—वह काम पर जाता । शाम होती—वह घर आता और फिर रात हो जाती । खाली समय में वह या तो कुछ पढ़ता रहता या खोई आंखों से एक ही ओर घंटों बैठ ऐसे देखता, जैसे उसके आगे एक अन्धकार का परदा हो, जिसके पीछे कुछ ऐसा छिपा है, जिसे वह पा लेना चाहता है । उसके इस हठयोग में भजन-पूजन सम्मिलित न था । वह अपनी वेदना किसी से न कहता । जब कोई उसके पास आता, तो वह सभ्यता से बातें करता, उनका एक उदासीनता के साथ स्वागत भी करता । पर जब कभी कोई उससे पुनर्विवाह की बात करता, तो वह चुप हो जाता । और, जब वह चुप हो जाता, तो ऐसा लगता, जैसे उसके अन्तरतम की हजारों जबानें कुछ बोलने को मचल रही हैं और वह उनको वश में करने के लिए एक युद्ध कर रहा है । हाथों की मुट्ठियां बंध जातीं, आंखें लाल हो जातीं, दांत भिंच जाते और वह अपने-आपको समेटे बैठा रहता । उसके उस रौद्र रूप को देख, लोग घबरा जाते और बातों का विषय बदलकर घर चले जाते ।

कभी-कभी बीना के आगे, अम्मा अपनी पड़ोसिन को गोपाल के विवाह की चर्चा करने को उकसाती, तो गोपाल एक बार बीना की ओर देखकर कांप जाता और फटी आंखों से मां की ओर देख बड़े जोर से हंसता । वह कर्कश हंसी प्रलय के समान भयंकर होती । उस हंसी के आगे मां की आंखें भर आतीं, पड़ोसिन [illegible]

जाता और वीना का पीला मुख सफेद पड़ जाता। वह गोपाल की आखों का उन्माद देख कांप जाती! एक हँसी में इतनी पीड़ा! इतनी वेदना!! इतना उन्माद!!! गोपाल तव वीना की दशा देख, अपने को कुछ सम्भालता, फिर सावारणता लाते हुए वीना को सान्त्वना देने के खयाल से कोई और वात छेड़ देता, फिर उठकर चला जाता।

दिन वीते चले जाते थे और अम्मा का पूजा-पाठ, मानता-प्रसाद, जादू-टोना, सव निष्फल होता जाता था। अच्छी-अच्छी लड़किया दूसरो के घरो की शोभा वढ़ाने चली जा रही थी और अम्मा यो ही हाथ फैलाए वैठी थी। आज उन्होने आखिरी कोशिश करने की ठानी थी। वे यह जानती थी कि गोपाल को वीना का ध्यान रहता है। उसको वह कभी निराश और दु खी न करना चाहता था। वह वीना के आगे अविकतर घर का वातावरण स्वाभाविक ही रखने की कोशिश करता था। उसके आगे वह अपना रौद्र रूप न लाता था। जो क्षणिक आवेश में कभी कुछ उल्टी-सीवी कह भी रहा हो, तो वीना को देख चुप हो जाता था। वीना के आगे वह हठयोगी कुछ इंसान-सा वन जाता था।

तो, आज अम्मा ने छोटी वहू वीना को गोपाल से विवाह के लिए हठ करने को कहा। वह उसकी वात न टालेगा। अम्मा ने दिन-भर वीना को सिखाया, वचन लेने का अस्त्र उसे वताया और जव तक गोपाल वचन न दे, वीना को तर्क और हठ करने की सीख दी। उन्होंने वीना को अच्छी तरह समझा दिया कि जव तक गोपाल का पुनर्विवाह न होगा, घर मे सुख और शान्ति न होगी। वीना ने गोपाल के आगे कभी खुलकर वात न की थी। वह जेठ का नाता रखता था। सुहागिन वीना उससे लजाती थी। उसका ससुर-समान आदर करती थी। पर वैधव्य की वीना उससे डरती थी, वहुत डरती थी। और आज, अम्मा उससे गोपाल से आग्रह करने को कह रही थी। उसे आग्रह करना ही होगा। उसके इस आग्रह का क्या मूल्य होगा, यह वह न जानती थी, पर तव भी उसे यह आग्रह करना ही था—इसलिए करना था कि अम्मा ने कहा था, इसलिए करना था कि कहीं लोग यह न समझें कि वह नहीं चाहती कि गोपाल का पुनर्विवाह हो।

अम्मा ने गोपाल के परम मित्र कैलाश को भी वुलाया था—शायद इसलिए, कि कैलाश वीना के तर्क और हठ को और भी महत्व दे सके।

आज शाम को गोपाल काम से लौटने पर आरामकुर्सी पर हाथों से आंखें मूदे हुए वैठा था। वीना चाय की ट्रे लेकर आई। सदा वीना ही चाय लाया करती थी। घर में नौकरों की कमी न थी, पर वह यह काम खुद ही करती थी। शायद इस सेवा में वह अज्ञात रूप से गोपाल को उसकी अव्यक्त सहानुभूति के लिए धन्यवाद-सा देती हो, अथवा अस्पष्ट रूप में वह गोपाल को अपनी सवेदना दिखाना चाहती हो! तो, वीना आज भी हमेशा की तरह चाय लेकर आई, पर आज उसके हाथ काप रहे थे। ट्रे के वर्तन खनखना रहे थे, पर गोपाल की विचार-धारा कुछ ऐसी गहन-गभीर थी कि वह वैसे ही वैठा रहा। वीना ने कहा—"भइया!" उसका स्वर काप रहा था। गोपाल ने आखें खोलीं। वीना का स्वर पहचानते ही वह स्वाभाविकता से वोला—"चाय लाई हो, वीना?" जवाव में वीना ने ट्रे के वर्तन खनखना दिए। गोपाल ने मुड़-कर देखा। उसके हाथ से ट्रे ली और फिर वैठ गया। वीना को देख, उसे न-जाने क्या हो जाता था। वह वहुत-कुछ कहना चाहता था, पर कुछ न कह पाता था—न कुछ कर ही पाता था। उसे सब व्यर्थ-सा लगता था। व्यर्थ थी ढोंगी-पोली सहानुभूति, सब व्यर्थ! जब वह वीना के वृद्ध यौवन को देखता, जब वह उसके जीवित शरीर और मृत आत्मा को देखता, जब वह उसकी आखों के वुझे दीपों को देखता, तो उसे लगता, जैसे हजारों शक्तियां उसे पुकार रही हैं कि वह कुछ करे—कुछ करे, जिससे वीना की, जिससे वैधव्य की, यह कुरूपता वदल जाए। पर वह अकर्मण्य बैठा रहता। उसके कानों में 'कायर, निकम्मा, ढोंगी, स्वार्थी, निर्लज्ज, पशु, पाषाण' की ध्वनियां उठतीं—जैसे उसकी समस्त शक्तियां उसे धिक्कार रही हों। पर वह कुछ कर न पाता, कुछ कह न पाता और बेवस-सा मौन हो, अपनी आखें मूद लेता—जैसे उसकी आंखें बंद होते ही वीना का वैधव्य ही हट जाता हो।

और दिन वीना चाय देकर चली जाती थी। पर आज वह नहीं गई रही। आखें वद होने पर भी गोपाल को यह मालूम था कि वीना नहीं

है और वह सोच रहा था कि वीना क्यों खड़ी है, वह क्या कर सकता है उसके लिए ? तभी फिर एक डरी हुई आवाज आई—"भइया !"

गोपाल सहमकर चौंक गया। आज वीना कुछ कहना चाहती थी। कैसे सुनेगा वह ? क्या करेगा वह ? पर वीना अब भी खड़ी थी। वह भी खड़ा हो गया। उसने देखा, वीना घबरा रही है।

"क्या है वीना ?"—उसने हताश स्वर में पूछा।

"मेरी एक बात मानेंगे आप ?"

गोपाल ने सुना। वह घबरा रहा था। जो कभी कुछ न बोली हो, वह आज एक बात कहेगी। वह 'न' कैसे कह सकता था। "हा···हा·· बैठो।" उसने मुस्कराने की कोशिश करते हुए कहा।

"पहले मुझे वचन दीजिए।"—वीना ने लड़खड़ाते स्वर में कहा।

"वचन देता हू।" वचन देते समय गोपाल को कोई शंका न हुई।

"आप अम्मा का कहना क्यों नही मानते ? आप शादी कर लीजिए।" वीना ने भीख-सी मागी। गोपाल सिर से पैर तक कांप गया। उसका सारा शरीर बुरी तरह झनझना रहा था।

"यह 'तुम' कह रही हो वीना ? ··· ·यह अम्मा ने 'तुम' से कहलवाया है ? और कोई न मिला उन्हें ?"—गोपाल तड़प गया और अपने हाथों मे अपना मुह ढाक कर बैठ गया।

"हां, मै कह रही हू। क्या मै आपकी कोई नही हू ? क्या अब मैं कुछ कह भी नहीं सकती ? आप शादी नही करते, आप हँसते नही, बोलते नही—आप कुछ भी तो नही करते। ये कपड़े, ये दाढी, ये बाल !" —वह आगे न कह सकी, गला रुध रहा था उसका।

"मै हँसता नही, बोलता नहीं, कुछ भी तो नही करता···! ह ह ह ह ह ! ये मेरे कपडे, ये दाढी, ये बाल !.. और तुम ? तुम वीना ?"—गोपाल की चेतना को न-जाने कहा से साहस आ गया। पर वीना सिहर गई।

"मै ?······मै ? क्या कह रहे हैं आप ?"—वीना एक डरी हिरनी-सी आखें फाडे गोपाल की ओर देख रही थी।

"मै क्या कह रहा हूं ? हा·· मै क्या कह रहा हूं। हू ! ह ह ह !! हा हा हा हा !!!" गोपाल उन्माद का ठहाका मार-

कर हँसा। वीना से गोपाल का यह हँसता रुदन न देखा गया। वह डरी हुई-सी पीछे हटने लगी। उसने अपनी आंखे मूद ली। कानो पर हाथ रख लिए। फिर वह घबरा कर रो दी। गोपाल ने देखा देखकर अपने को धिक्कारा।

"वीना! वीना! सुनो!"—वह सस्नेह बोला। वीना ने सिसकी भरते हुए उसकी ओर डरी आखो से देखा। उसकी आखें उस समय उस कुत्ते की आखो के समान थी, जो मालिक से अकारण ही झिडकी खाने के बाद फिर प्यार से बुलाया गया हो। उन आखो में सन्देह, विश्वास, स्नेह और भय का विचित्र मिश्रण था। गोपाल को अपने ऊपर क्रोध आ रहा था—मन में उन आखो को देख अति ग्लानि थी। "सुनो!"—वह शान्त होते हुए बोला—"तुमने मुझसे वचन लिया है न? बोलो।"

"हा!"—वीना ने सास रोककर कहा। "तो जो तुम कहोगी, मैं करूगा। जाओ, अम्मा से कह दो, तुमने अपना काम कर दिया।" यह कह, गोपाल फिर आखें बदकर कुर्सी पर बैठ गया। वह थक गया था, हार गया था, अम्मा की जीत हुई थी। पर आज वह बोल सका था, उसने वीना से कहा था—"और तुम वीना?" अब वह चुप न रहेगा। वह फिर गहरे सोच में पड गया। पर इस सोच में निराशा न थी।

उधर अम्मा कैलाश को लिए दरवाजे के पीछे खडी सब सुन रही थी। गोपाल के वचन देने पर उन्होंने सन्तोष की सास ली और कुछ देर बाद कैलाश को गोपाल के निश्चय को दृढ करने को भेजा। कैलाश भी एक अभिनय-सा करता हुआ कमरे मे आते ही बोला—"भाई वाह! यह क्या हो रहा है? खैर, खुश हूँ, होश तो आया! अम्मा से अभी मुझे मालूम हुआ कि हमारे बैरागी साहब अब [illegible] है। चलो, आज की खुशी में तुम्हारी वह डाटी माफ कर दी जाए।"

गोपाल निश्चल बैठ रहा। कैलाश कुछ [illegible], कुछ न समझ सका-सा पास ही बैठ गया। अभिनय का पहला हिस्सा खत्म हो गया था और आगे उसकी समझ मे न आ रहा था कि वह क्या करे! उधर गोपाल की आखो में अब भी वही हठ दीख रहा था। उसके भावावेश में कोई अन्तर न था। कैलाश कुछ उलझकर बोला—"ऐसे भी [illegible]"

गोपाल ? तुम तो ऐसे वन रहे हो, जैसे कि यह सब दुनिया में होता ही नहीं। अभी कुछ ही साल की तो बात है, जब तुमने रमेश को खुद समझा-बुझाकर उसकी दूसरी शादी करवाई थी। तुम दोस्त के नाते उसके ब्याह में गए भी थे। तब तो तुम बड़े फिलासफर बना करते थे।" ..... "तुम्ही ने तो कहा था कि भूत को वर्तमान और भविष्य पर हावी नही होने देना चाहिए। ....तुम्ही तो कहा करते थे कि मै निराशावादी नही, आशावादी हू। तुम्हारा ही कहना था कि इन्सान को हर परिस्थिति में सुख को फिर से गढ़ना होता है। इन्सान कलाकार है और यह उसकी सबसे बडी कला है। अब क्या हो गया है तुम्हें ? इस दुनिया को छोड़कर जो चला जाता है, उसको प्रियजनों के दुःख से कभी सुख नही मिल सकता! बोलो, कहो, क्या यह सब तुम नही कहते थे ?"

गोपाल ने एक ठडी सास ली, फिर कहा—"हा, मैं ही यह सब कहता था·· ··और अब भी कहता हू।"

"तो फिर यह वैरागी होने का ढोग क्यो रचा है तुमने ? क्यो मा को इतने दिनो से तड़पा रहे हो ? क्यो अपना जीवन नष्ट कर रहे हो ?" —कैलाश ने आवेश में कहा।

गोपाल सोच रहा था। अपना साहस बटोर रहा था, बोला—"कैलाश, तुम मुझे गलत समझ रहे हो। यह ढोग मैंने इसलिए नहीं रचा कि मैं दुनिया को यह दिखाना चाहता हू कि मै एक आदर्श पति हू। मेरे विचार अब भी वही है, जो पहले थे। मैं मौत और जिन्दगी को सम्मिलित नही करता। प्रेत आत्मा और जीवित आत्मा का नाता कैसा ? इस दुनिया में रहकर उस दुनिया से सम्बन्ध कैसा ? पर पर मै कायर हू। मै बुजदिल हू, कैलाश!···· · 'आज अम्मा ने बेचारी वीना को मेरे पास शादी का वचन लेने को भेजा था। 'वीना' को! बेचारी वीना को मुझे समझाने भेजा था कि जीवन में तो रंगीनियो से यो मुह नही मोड़ा जाता। यह भी कहलवाया कि हँसना, बोलना, खेलना, घूमना, कपड़े पहनना, शृगार करना ही जीना है। और, यह सब रूखे बाल और सूने ललाट-वाली वीना मुझे समझाने को भेजी गई थी, जिसे मै अभी दो साल

हुए, ब्याह कर लाया था, जो मेरी छोटी बहन के समान है; जिसे ईश्वर ने नहीं, समाज ने आजन्म फासी पर लटके रहने का दण्ड दिया है। वह मुझसे कह रही थी कि मैं अपने जीवन में रस भर लूं, संगीत भर लूं और रंग भर रंगरलिया मनाऊं! मैं वचन दूं कि मैं काल से हार नही मानता! कैलाश! एक खण्डहर कह रहा था कि मैं एक विशाल महल बनूं। उफ! अम्मा को कोई और न मिला था?"

"फिर तुमने उससे क्या कहा, गोपाल?"—कैलाश ने पूछा।

"मैं उन बेचारी की पहली माग पर 'न' कैसे कहता? मैंने वचन दे दिया। अम्मा ने उसे मेरे पास भेजा था। अब मैं भी तुम्हें उनके पास भेजना चाहता हूं। तुम्हें इसलिए भेज रहा हूं कि मैं कायर हूं। उनका बेटा होने के नाते मेरी जबान खुल न पाएगी। मैंने कुछ दिन हुए, उनसे एक बार वीना के इस नीरस जीवन के बारे में बातें की थी। उनको इस वेश-भूषा को बदलने को कहा था। जानते हो, उन्होंने मुझसे क्या कहा?"

"क्या?"—कैलाश ने डरते-डरते पूछा।

गोपाल बोला—"मा कहने लगी—'मुझे क्या? वह दो जाकर, मुंह काला कर ले!' कैलाश! व ऐसे बोली, जैसे किसी भेंट-बकरी की बात कर रही हो। मैं बुज़दिल की तरह वहा से भाग आया। पर अब मैं चुप न रहूंगा। मैं पागल हो रहा हूं। तुम उनसे पूछो, कैलाश! उनके छोटे बेटे की मृत्यु हो गई। वे मा हैं और मा की ममता से बढ़कर, कहते हैं, कोई ममता नहीं। फिर भी उस दुःख को सहन कर वे फिर से सुख की दुनिया में रहना चाहती हैं। मैं उसका बड़ा भाई था। बहुत प्यार करता था मैं उसे। २५ साल का जवान था मेरा-[illegible]—फिर भी, मैं अपनी दूसरी शादी कर उसे भूल जाऊंगा। [illegible] अपनी पत्नी को भूल जाऊंगा, नई बहू लाऊंगा—और केवल मा के कहने से नहीं, जिन्दगी के कहने से! शोक की एक सीमा होती है। अम्मा की दुनिया न बदली। मेरी दुनिया ने फिर बसन्त पाया। पर साल-दो साल की ब्याही पराई लड़की से हम चाहते हैं कि वह आजन्म उस परदेशी की स्मृति में धूनी रमा सदा के लिए संन्यासिन हो जाए! वह अपना दुःख एक त्योहार की तरह मनाए। [illegible]

कैलाश, दुःख भी क्या मनाने की चीज़ है ? दुःख कोई त्योहार नहीं, जो मनाया जाए । ओह ! मैं यह सब नहीं देख सकता, कैलाश, नहीं देख सकता !" गोपाल फिर उन्मादित हो अपने बाल नोचने लगा ।

"शांत हो, गोपाल ! भाग्य के आगे इन्सान हारा है।"—कैलाश ने गोपाल को समझाते हुए कहा ।

"चुप रहो ! तुम भी अम्मा के सिखाए भेजे गए हो। भाग्य ! फूटे कर्म ! भाग्य और फूटे कर्म, हम दोनों के एक थे। यह भगवान् का न्याय था। वह दण्ड दे चुका । मुझसे मेरी राधा और बीना से उसका प्राण छीन लिया उसने। यह ईश्वर का दण्ड था। पा लिया हमने । पर अब समाज-देवता का न्याय कैसा है ? मैं फिर से ब्याह कर लूं और बीना बेचारी ठीक से कपड़े भी न पहने । मैं फिर से जीवन पाऊं और बीना जीवित ही मर जाए ? यही है न तुम्हारे समाज-देवता का न्याय ? ईश्वर समदर्शी है। वह हम सबको एक-सा दण्ड, एक-सा फल देता है। पर समाज-देवता ईश्वरीय न्याय के बाद भी दण्ड देते हैं। हां, फर्क सिर्फ इतना है कि उनका न्याय केवल सुन्दर कोमल अबलाओं को ही यह भीषण दण्ड देने का है। ...... मैं बेटा हूं, वह बहू। हम दोनों पर शायद भगवान् ने एक साथ एक-सा दुःख केवल इसीलिए दिया हो कि बेटे का दुःख देख अम्मा को बहू की भी संवेदना हो। पर नहीं हुई। नहीं हुई, कैलाश ! वे केवल मुझको ही देखती रहीं। मेरे कपड़े, मेरे शाल, हुह ! मर्द तो शृंगार के लिए बने ही नहीं । पर लड़की तो होश आते ही शृंगार की दुनिया में पलती और बड़ी होती है। वह सन्यास ले-ले और मैं अपने जीवन का शृंगार करूं ? मैं बीना को वचन दे चुका हूं। मैं अपना वचन वापस नहीं मांगता। पर जब तक बीना सुखी न होगी, मैं शादी नहीं करूंगा।"

"विधवा-विवाह कोई जुर्म तो नहीं है, गोपाल !"—कैलाश ने कुछ झिझकते हुए कहा ।

"विवाह ! विधवा-विवाह ! क्या विवाह ! क्या विवाह ही सब-कुछ है, कैलाश ? क्या तुम चाहते हो कि एक नारी केवल स्वाभाविक जीवन बिताने के लिए दूसरा विवाह कर ले ? क्या बिना विवाह किए उसे जीने

का कोई अधिकार नही ? कितना शौक था वीना को साडियो का, फूलो का, गहनो का ! आह ! मुझे याद है वह दिन, जब चूडी वालो की आवाज़ सुन वह ऐसी भागी थी कि ठोकर खा गिर पडी थी । अब सिर्फ कुछ गहने-कपड़े पहन सकने के लिए उसे व्याह की भीख मागनी होगी ? · शादी-व्याह उसके अपने मन की निजी बात है । मुझ के लिए वह अनिवार्य नही । पर मै कहता हू, कैलाश ! मै उस ...ले न रखूगा । अम्मा से कह दो कि यदि वे मुझे सुखी देखना चाहती हैं, तो वीना को फिर से घर की लडकी का स्थान दे । उसे उन जीवन में जीने दे । मै व्याह को नही कहता । मगर मै उसके लिए सिर्फ ज़िन्दगी मागता हू—वही ज़िन्दगी, जो एक दिन ब्याही लडकी की होती है । उसे पुनर्विवाह की नही, पुनर्जीवन की आशा दें, उसे हँसने की आशा दें, उसकी आती-जाती सासो को मौत की नही, ज़िन्दगी की आशा दें । नही तो नही तो मै पागल हो जाऊगा मै "
अचानक वह चौंका—" वह कैसी आवाज थी, क्या हुआ ?"

"तुम ठहरो गोपाल, मै देखकर आता हू ।" कैलाश ने आगे बढ़कर दरवाजा खोला । वीना नीचे अचेत पडी थी ।

"वीना गिर पडी ! चक्कर आ गया हो शायद । थोडा पानी लाना, गोपाल !"

गोपाल पाषाण-मूर्ति-सा खडा था ।

"खड़े देख क्या रहे हो ? वेहोश हो गई है । पानी दो जल्दी !" —कैलाश ने गुस्से में कहा ।

"वेहोश हो गई है ? ओह ! कितने दिनो बाद वेहोश हुई है आज ! पानी ? पानी क्या करोगे, कैलाश ? तुम उसे होश में लाना चाहते हो ? क्यो ? मै पूछता हू, क्यो ? उसे होश में लाकर तुम उसे क्या दोगे ?"

गोपाल बक रहा था । कैलाश पानी की सुराही की तरफ लपका ।

"खबरदार ! जो कोई उसे होश में लाया । वह अब सुखी है, कम-से-कम कोई दु:ख नही उसे । बधाई दो, कैलाश ! बधाई दो ! अम्मा से कह दो, शहनाई बजवाए । उनकी बह वेहोश है बेटा पागल

करने जा रहा है। विवाह रचाओ । जल्दी करो। उसे होश न आने पाए। इस समय वह दु.खी नहीं। ह. ह हः ह. ! बुझे दीप जलाओ, कैलाश ! बुझे दीप जलाओ !"

मेढ़की का ब्याह

वृन्दावनलाल वर्मा

उन ज़िलों में त्राहि-त्राहि मच रही थी। आसाढ़ चला गया, सावन निकलने को हुआ, परन्तु पानी की बूंद नहीं। आकाश में बादल कभी-कभी छिटपुट होकर इधर-उधर बह जाते। आशा थी कि पानी बरसेगा, क्योंकि गाव वालों ने कुछ पत्रों में पढ़ा था कि कलकत्ता-मद्रास की तरफ ज़ोर की वर्षा हुई है। लगते आसाढ़ थोड़ा-सा बरसा भी था। आगे भी बरसेगा, इसी आशा में अनाज बो दिया गया था। अनाज जम निकला, फिर हरियाकर मुरझाने लगा। यदि चार-छः दिन और न बरसा, तो सब समाप्त। यह आशंका उन ज़िलों के गावों में घर करने लगी थी। लोग व्याकुल थे।

गावों में सयानों की कमी न थी। टोने-टोटके, धूप-दीप, जन्तर-मन्तर किया, लेकिन कुछ न हुआ। एक गाव का पुराना चतुर नायता बड़ी सूझ-बूझ का था। अथाई पर उसने बैठक करवाई। क्या-क्या किया गया है, थोड़ी देर इस पर चर्चा चली। नायते ने अवसर पाकर कहा—"इन्द्र वर्षा के देवता हैं—उन्हें प्रसन्न करना पड़ेगा।"

"सभी तरह के उपाय कर लिए गए हैं। कोई गाव ऐसा नहीं है, जहां कुछ-न-कुछ न किया गया हो। पर अभी तक हुआ कुछ भी नहीं है।'
—बहुत-से लोगों ने तरह-तरह से कहा और उन गावों के नाम लिए।

होम-हवन, सत्यनारायण की कथा, देवी-दुर्गा का बलिदान, इत्यादि किसी-किसी ने फिर सुनाए, परन्तु नायते ने [illegible]

अन्त मे सवको माननी पड़ी। नावते ने कहा—"वरसात मे ही मढ़क क्यो इतना वोलते हैं? क्यो इतने वढ़ जाते है? कभी किसी ने सोचा? इन्द्र वर्षा के देवता हैं, सव जानते हैं। पानी की झड़ी के साथ मेंढ़क वरसते है, सो क्यो? कोई किरानी कह देगा कि मेढक नही वरसते। विल्कुल गलत। मैंने खुद वरसते देखा है। वड़ी नाद या किसी वडे वर्तन को वरसात में खुली जगह रख के देख लो। सांझ के समय रख दो, सवेरे वर्तन मे छोटे-छोटे मेढक मिल जाएगे। वात यह है कि इन्द्र देवता को मेढक वहुत प्यारे हैं। वे जो रट लगाते है, तो इन्द्र का जय-जयकार करते हैं।"

अथाई पर वैठे लोग मुह ताक रहे थे कि नावताजी अन्त मे क्या कहते है।

नावता अन्त में वहुत आश्वासन के साथ वोला—"मेढ़क-मेढकी का व्याह करा दो। पानी न वरसे, तो मेरी नाक काट डालना।" मेढक-मेढकी का व्याह! कुछ के होंठो पर हँसी झलकने को हुई, परन्तु अनुभवी नावते की गम्भीर शक्ल देखकर हँसी उभर न पाई।

एक ने पूछा—"कैसे क्या होगा उनमे? मेढकी के व्याह की विधि तो वतलाओ, दादा।"

नावते ने विधि वतलाई—"वैसे ही करो मेढ़क-मेढ़की का व्याह, जैसे अपने यहा लडके-लड़की का होता है। सगाई, फलदान, सगुन, तिलक, आतिशवाजी, भावर, ज्योनार, सव धूम-धाम के साथ हो, तभी इन्द्रदेव प्रसन्न होगे।" लोगो ने आकाश की ओर देखा। तारे टिमटिमा रहे थे। वादल का धव्वा भी वहां न था। पानी न वरसा, तो मर मिटे। ढोरो-वैलो का क्या होगा? वढी हुई निराशा ने उन सवको भयभीत कर दिया।

लोगो ने नावते की वात स्वीकार कर ली। चन्दा किया गया। आस-पास के गावो मे भी सूचना भेजी गई। कुतूहल उमगा और भय ने भी अपना काम किया। यदि नावते के सुझाव को ठुकरा दिया, तो सम्भव है, इन्द्रदेव और भी नाराज़ हो जाए। फिर? फिर क्या होगा? चौपट! सव तरफ वंटाढार!

आस-पास के गावो ने भी मान लिया। काफी चन्दा थोड़ ही समय में हो गया।

नावते ने एक जोडी मेढक भी कही से पकड़ कर रख लिए । एक मेढ़क था, एक मेढ़की । ब्राह्मणो की कमी नही थी । व्याह की धूम-धाम का मज़ा और ऊपर से दान-दक्षिणा ।

गांव के दो भले आदमी मेढक-मेढकी के पिता भी बन गए । मुहूर्त शोधा गया—जल्दी का मुहूर्त !

बाजे-गाजे के साथ फलदान, सगुन की रस्में अदा की गई । दोनो के घर दावत-पगत हुई । मेढ़क-मेढ़की नावते के ही पास थे । वही उन्हें खिला-पिला रहा था । अन्यत्र हटाकर उनके मरने-जीने की जोखिम कौन ले ?

तिलक-भावर का भी दिन आया । पानी के एक बर्तन में मेढकी उस घर में रख दी गई, जिसके स्वामी को कन्यादान करना था । उसने सोचा—"हो सकता है, पानी बरस पडे । कन्यादान का पुण्य तो मिलेगा ही ।"

मेढ़क दूल्हा पालकी में बिठलाया गया । रखा गया बान्ध कर । उछल कर कही चल देता, तो सारा कार-बार ठप हो जाता । आतिश-बाजी भी फूकी गई, और बडे पैमाने पर । एक तो, आतिशबाजी के बिना व्याह क्या ? दूसरे, अगर पिछले साल किसी ने आतिशबाजी पर एक रुपया फूका था, तो इस साल कम-से-कम सवा का गुब्बारा तो उड़ाना ही चाहिए ।

तिलक हुआ । जैसे ही मेढक के माथे पर चन्दन लगाने के लिए ब्राह्मण ने हाथ बढाया कि मेढक उछला । ब्राह्मण डर के मारे पीछे हट गया । खैरियत हुई कि मेढक एक पक्के डोरे से बर्तन में बधा था नही तो उसकी पकड-धकड में मुहूर्त चूक जाता । कुछ लोग मेढक की उछल-कूद पर हँस पडे । कुछ ने ब्राह्मण को फटकारा—"डरते हो ? दक्षिणा मिलेगी, पण्डितजी ! करो तिलक ।"

पण्डितजी ने साहस बटोरकर मेढक के ऊपर चन्दन छिड़क दिया । फिर पडी भावर ।

एक पट्टे पर मेढक बाधा गया, दूसरे पर मेढकी । दोनों ने टर-टर्र शुरू की ।

नावता बोला—"ये एक-दूसरे से व्याह करने की चर्चा कर रहे हैं।"

ब्राह्मणों ने भांवरें पढ़ी और पढ़वाईं। फिर दावत-पगत हुई। मेढ़की की विदाई हुई। मेढ़क के 'पिताजी' को दहेज भी मिला। मनुष्यो के विवाह में दहेज दिया जाए, तो मेढ़क-मेढ़की के विवाह मे ही क्यों हाथ सिकोडा जाए? पानी वरसे या न वरसे, मेढ़क के पिताजी वहरहाल कुछ-से-कुछ तो हो ही गए। नावता दादा की अंटी में भी रकम पहुंची और इन्द्रदेव ने भी कृपा की।

वादल आए, छाए और गडगडाए। फिर वरसा मूसलवार। लोग हर्ष-मग्न हो गए। नावते की धाक वैठ गई; कहता फिर रहा था—"मेरी वात खाली तो नही गई! इन्द्रदेव प्रसन्न हो गए न!"

पानी वरसा और इतना वरसा कि रुकने का नाम न ले रहा था। नाले चढे, नदियों में वाढें आईं। पोखरे और तालाव उमड़ उठे। कुछ तालावो के वाध टूट गए। खेतो में पानी भर गया। सड़कें कट गईं। गावो में पानी तरगें लेने लगा। जनता और उसके ढोर डूवने-उतराने लगे। वहुत-से तो मर भी गए। सम्पत्ति की भारी हानि हो गई। आठ-दस दिन के भीतर ही भीषण वर्वादी हुई। इन्द्रदेव के वहुत हाथ-पैर जोडे। वह न माने, न माने। लोग कह रहे थे कि इससे तो वह सूखा ही अच्छा था।

फिर नावते की शरण पकड़ी गई—अव क्या हो?

उसका नुस्खा तैयार था। वोला—"कोई वात नही। सरकार ने तलाक-कानून पास कर दिया है। मेढ़क-मेढ़की का तलाक कराए देता हूं। पानी वन्द हो जाएगा।"

"पर मेढको का वह जोडा कहा मिलेगा?"—लोगो ने प्रश्न किया।

नावते का उत्तर उसकी जेव में ही था। उसने चट से कहा—"मेरे पास है।"

"कहा से आया? कैसे?"—प्रश्न हुआ।

उत्तर था—"मेढक के पिता के घर से दोनो को ले आया था। जानता था कि शायद अटक पड़ जाए।"

पानी वरसते में ही तलाक की कार्रवाई जल्दी-जल्दी की गई। तलाक की क्रिया के निभाने में न तो अधिक समय लगना था और न कुछ वैसा खर्च।

मेढ़क-मेढ़की दोनो छोड़ दिए गए। दोनो उछलकर इधर-उधर हो गए। परन्तु पानी का वरसना वन्द न हुआ। वाढ-पर-वाढ और जनता के कष्टो का वारापार नहीं।

गाव छोड़-छोड़कर लोग इधर-उधर भाग रहे थे। एक-दो के मन में आया कि नावता मिल जाए, तो उसका सिर फोड डालें।

परन्तु नावता कहीं नौ-दो-ग्यारह हो गया।

हृदय-परिवर्तन

शान्तिप्रिय द्विवेदी

वर्बर पशुओं से आक्रान्त, श्रावस्ती के वन-प्रान्तर में एक नरपशु भी रहता था। उस विकराल व्याघ्र का नाम अंगुलिमाल था। वह मनुष्यों को मारकर अंगुलियों की माला पहनता था। उसके आतंक से पीड़ित होकर त्रस्त प्रजा ने राजा प्रसेनजित से निवेदन किया—"देव! उस दुर्दान्त दस्यु से हम लोगों की रक्षा कीजिए।"

राजा प्रसेनजित ने उसके दमन के लिए बहुत उपाय किए, किन्तु सब निष्फल गए। सैनिक शक्ति के रहते हुए भी प्रसेनजित दस्युजित नहीं हो सका।

अंगुलिमाल जन्म से ही दुर्दान्त दस्यु नहीं था। कभी वह नरपशु भी मनुज-शिशु था। कोशलराज के पुरोहित गार्ग्य की भार्या मैत्रायणी की कोख से वह उत्पन्न हुआ था और किशोरावस्था में तक्षशिला के गुरुकुल का सुशील छात्र था। वह आचारवान, आज्ञाकारी और प्रियभाषी था। उसके शील और प्रतिभा से मन्दबुद्धि सहपाठियों को द्वेष होने लगा। वे आपस में परामर्श करने लगे कि कैसे इसे नीचा दिखाएं। वे उसका छिद्रान्वेषण करने लगे, किन्तु उस निष्ठावान और प्रज्ञावान माणवक में उन्हें कोई दोष नहीं दिखाई दिया। तब उन्होंने निश्चय किया कि आचार्य-पत्नी को निमित्त बनाकर इसे लाञ्छित किया जाए।

उस सुशील माणवक पर आचार्य-पत्नी का अपत्य स्नेह था—अत्यन्त वात्सल्य था। माता की तरह ही वे उसके योग-क्षेम का ध्यान

रखती, घर आ जाने पर उनका सत्कार करती और आशीर्वाद के रूप में अन्नपूर्णा का प्रसाद देती ।

विद्वेषी सहपाठियो ने गुरकुल मे यह प्रवाद फैला दिया कि आचार्य-पत्नी से ढोंगी भाणवक का अनुचित सम्बन्ध है ।

बारी-बारी से प्रवाद को पुष्ट करने के लिए विद्वेषियो ने अपने को तीन टुकडियो में विभक्त कर लिया ।

पहली टुकडी आचार्य के पास जाकर अभिवादन और वन्दना करके खडी हो गई ।

आचार्य ने पूछा—"क्या है, आयुष्मानो ?"

उत्तर मिला—"वह भाणवक आपके अन्त पुर को दूषित कर रहा है ।"

आचार्य ने डाट दिया—"जाओ, शूद्रो ! मेरे शीलवान पुत्र और मुझमें विग्रह मत उत्पन्न करो ।"

बीच-बीच में कुछ दिन छोडकर दूसरी-तीसरी टुकडी ने भी पहली टुकडी की बात दुहराते-तिहराते हुए कहा—"यदि आचार्य को हमारी बात पर विश्वास नही है, तो स्वय परीक्षा करके देख लें ।"

एक दिन भाणवक आचार्य-पत्नी के चरणों में उपस्थित होकर बच्चा की भाति सहज मलाप कर रहा था । शिशु की तुतली बातों से द्रवित होती मा की भाति विह्वला आचार्य-पत्नी भाणवक की मन्त्रणा में आनन्द-विभोर हो रही थी । आचार्य ने परोक्ष दृष्टि से देख लिया । वे असमंजस में पड गए । सोचने लगे—"इस दुष्ट को कैसे दण्ड दू ? यदि मारता हू तो मुझे दुर्दण्ड समझकर अन्य छात्र यहा पढने नहीं आएगे—गुरुकुल सूना हो जाएगा ।"

सोचते-सोचते उन्हें यह सूझा कि इससे ऐसी गुरु-दक्षिणा मागनी चाहिए, जिससे कि यह हिंसक होकर हिंसा से ही स्वत नष्ट हो जाए । उन्होने भाणवक से कहा—"वटुक, तुम्हारी शिक्षा पूरी हो चुकी है । अब तुम अपनी गुरु-दक्षिणा दो ।"

भाणवक ने विनम्र होकर कहा—"आचार्यश्री ! मैं क्या गुरु-दक्षिणा अर्पित करू ?"

आचार्य ने आज्ञा दी—"सहस्र नर-नारियो को मारकर अपने साहस का परिचय दो— तुम्हारा साहस ही मेरी दक्षिणा है ।"

सरलहृदय भाणवक सिहर उठा । उस नम्र स्नातक ने सात्विक दृढता से कहा—"आचार्य ! मै अहिसक कुल में उत्पन्न हुआ हू—यह जघन्य पाप नही कर सकता ।"

आचार्य ने क्रुद्ध होकर कहा—"मेरी मनोवाछित दक्षिणा न देने से तुम्हारी विद्या निष्फल हो जाएगी ।"

भाणवक ने आचार्य की रुष्ट आखों की ओर देखा । उनकी शिक्षा की तरह ही, उन आखो का रक्तारक्त रोप भी उसके कोरे चित्त में अनुरंजित हो उठा । सात्विक स्वभाव में तामसिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ । अहिसक भाणवक हिसा के पथ पर चल पड़ा । अकेले सहस्र नर-नारियो का सामना नही कर सकता था; अतएव पाच हथियार लेकर जंगल में छिप गया ।

वह मनुष्यों को केवल मारता था, धन और वस्त्र नही छीनता था । संख्या याद रखने के लिए गिनता जाता था । जव गिनती याद नही रख सका, तव मृतकों की एक-एक अंगुली काट कर रखने लगा । फिर, अंगुलिया रखे स्थान पर खो जाती थी, सो वह उनकी माला वनाकर पहनने लगा । उसके भय से जव लोगो ने काम-काज के लिए जगल में जाना वन्द कर दिया, तव वह रात के समय गाव में आकर पैर के आघात से दरवाजा खोल सोतो हुओ को मारकर गिनती गिनता चला जाता । गाव निगम में और निगम नगर में भागकर राजा को गुहराने लगा ।

उस समय तथागत वुद्ध अनाथपिण्डक के जेतवन में विहार करते थे । पूर्वाह्न में जव वे भिक्षाटन कर रहे थे, तव उन्होने अंगुलिमाल से पीडित प्रजा का आर्तनाद सुना । अपराह्न मे वे उस दिशा की ओर चले जिधर अगुलिमाल रहता था । उन्हें उधर जाते देखकर गोपालको, पशुपालको, कृपको और पाथको ने कहा—"महाश्रमण, उस ओर मत जाइए । उधर पचासो आदमी एक साथ जाकर भी अगुलिमाल के चंगुल मे नही वचते ।"

प्रसेनजित ने कहा—"भन्ते ! हम प्रत्युत्थान करेंगे, आसन के लिए निमन्त्रित करेंगे, सन्यास के उपकरण प्रदान करेंगे, सब तरह से रक्षा करेंगे ! किन्तु इस दु शील पापी से क्या शील-सयम सम्भव है ?"

अंगुलिमाल तथागत से थोडी दूर पर बैठा हुआ था। तथागत ने उसकी दाहिनी बांह पकड़कर राजा के सामने उपस्थित करते हुए कहा—"राजन्, यह है तुम्हारा अपराधी—अंगुलिमाल !"

इस आकस्मिक सवाद से प्रसेनजित सिर से पैर तक काप उठा। उसे चकित और रोमाचित देखकर तथागत ने ढाढस दिया—"राजन् ! डरो मत, इस आतंककारी में अब कोई डक नहीं है। एक बार इसे भर-आख देखो तो सही।"

प्रसेनजित ने आश्वस्त होकर ध्यान से देखा—ग्रीष्म का प्रचण्ड मार्तण्ड शिशिर का सुकोमल आतप हो गया है।

सम्मानपूर्वक खड़े होकर राजा ने अंगुलिमाल का साजलि अभिवादन किया। उस नूतन ब्रह्मचारी ने अपनी सौम्य दृष्टि से राजा को अभिषिक्त कर आशीर्वाद दिया—"तथागत के चरणों में सबका कल्याण हो !"

परिक्रमा

शेखर जोशी

घर में चारो ओर जैसे एक गुप्त मन्त्रणा चलती रहती। हर एक के मन में जैसे कोई रहस्य पल रहा था। कहने-भर को ही संयुक्त परिवार था। घर के ही नही, वाहर के लोग भी जानते थे कि इस संयुक्त परिवार के आवार कितने खोखले हो चुके है। हमेशा यही आशंका लगी रहती कि न-जाने कव विस्फोट हो जाए! कव कौन-सी वात वारूद के ढेर में चिनगारी का काम कर दे!

घर के आंगन में, दाडिम की छाया में, वैठे-वैठे दिन-भर हरिदत्तजी वडवड़ाते रहते। वुढ़ापे की वुधली दृष्टि से भी उन्हें परिवार के प्रत्येक सदस्य के मुख पर छाई हुई विपाद की छाया दिखाई दे जाती।

ऐसे कव तक चलेगा? इसका समावान तो करना ही होगा। समावान का अर्थ है, विभाजन! विभाजन की कल्पना करते-करते हरिदत्त-जी का शरीर सिहर उठता। आज तक नवागन्तुकों के सम्मुख अपने संयुक्त परिवार की घोपणा करते हुए उन्हें कितना गर्व अनुभव होता रहा था। पर अव अविक दिनों तक ऐसे नही चलेगा। एक दिन वड़ी वहू ने आकर श्वसुर के पैर पकड़ लिए थे। एक शब्द भी वह नही वोली थी, केवल आंसू! आंसू! जैसे आज अपने आसुओ से वह पूरी वरती को जलमग्न कर देगी। अभागिनी विववा के आंसुओ से वड़े घर की ईंट-ईंट भीग गई थी। आंसू थम चुकने पर, रुंधे कण्ठ से वार-वार वह दुहराती थी—"मेरा क्या कसूर

है, आप ही बताइए !" बाबा की उम्र के वृद्ध श्वसुर के आगे, ऐसे क्षणों में भी, उसका घूंघट नहीं उठा था।

हरिदत्तजी ने कोई उत्तर नहीं दिया था। उत्तर देने के लिए बचा ही क्या था? 'बड़ी' का कोई दोष भी तो नहीं था। दोष तो उन्हीं का था कि इतनी दीर्घायु का वरदान पाकर उन्होंने जन्म लिया। चार लडकों में से एक-के-बाद-एक, दो जवान लडकों की मृत्यु का दु:ख ही जैसे पर्याप्त न हो—हर दिन, हर घडी, घर में कलह मची रहती। जो बीत गया, उसे भुला भी दिया जा सकता था। पर उस व्यतीत की स्मृति में दोनों विधवाओं के सूने हाथ जब-तब उनकी पूजा-सामग्री जुटा जाते, तो वह घाव फिर हरा हो जाता। दूसरी बहू ने कभी रो-धोकर कोई शिकायत की हो, हरिदत्तजी को याद नहीं पडता। उसका वैधव्य जैसे उसे गूंगी बना गया था। अपने हरीश का हाथ थामकर, दरवाज़े की आड में खडी हो, वह कह देती—"जा, बाबा के पास जाकर बैठ!"

हरिदत्तजी एक बार आंखें उठाकर देख लेते, परन्तु मैली धोती में लिपटी बहू की आकृति न-जाने कब द्वार की ओट में ओझल हो गई होती। तब नन्हे हरीश को बुलाकर वे पास में बैठा लेते। हरीश की ओर देखकर उन्हें लगता, जैसे उसका पिता गोपाल एक बार फिर अपने शैशव में लौट आया हो। पर वह आकृति भी धीरे-धीरे अस्पष्ट हो जाती। सावन-भादों के बादल उन दोनों के बीच पहरा देने लगते।

रामदत्त की पत्नी का तीखा-असन्तुष्ट स्वर कभी-कभी कानों में आ टकराता। प्रति दिन दूध को लेकर, बच्चों की बातों को लेकर, घरेलू काम-काज को लेकर एक-न-एक झगडा उठ खडा होता। सबसे छोटी, [illegible] की बहू का ऐसा तीखा-असन्तुष्ट स्वर तो उन्हें नहीं सुनाई देता था, पर वह इतनी सीधी-सादी नहीं है, यह भी हरिदत्त जी जानते थे। दोनों विधवाओं के सम्मुख दोनों सुहागिनों को अपने-आप पर [illegible] गर्व था। दोनों बहुएं इस बात का प्रदर्शन करना नहीं भूलती थीं कि उनके कमाऊ पतियों के कारण ही घर-संसार चल रहा है। दोनों सुहागिनों में परस्पर [illegible] प्रीति थी। रामदत्त की बहू कहती—"छोटी, मुन्नी को [illegible] दे तो।"

छोटी दांतों के बीच निचला होठ दबाकर उत्तर देती—"दीदी, दूध तो बहुत कम दिखाई दे रहा है। कोई दो पैरों वाली विल्ली तो नही पी गई ?" और, दोनों सुहागिनो के मुख पर रहस्य-भरी मुस्कान फैल जाती।

बड़ी बहू और हरीग की मा, दोनो विधवाओ के कलेजे मे तीर की तरह यह वात चुभ जाती। दिन-भर में कई वार ऐसे ही विष-भरे शब्द घर के वातावरण में गूज उठते। इन विषाक्त शब्दो से कभी भी मुक्ति नही थी। जब सब-कुछ असह्य हो उठता, तो पानी की गागर उठाकर बड़ी बहू डिग्गी की ओर चल देती। हरीश की मां का वड़ा मन होता कि कही एकान्त मे वह उससे बातें करे और मौका मिलने पर अन्य दोनो बहुओ की दृष्टि बचाकर वह भी उसके पीछे-पीछे चली जाती।

बड़ी बहू धीरज बधाने के स्वर में कहती—"बहन, दिल छोटा नही करते। दु ख-सुख तो रात-दिन की तरह ही रहते है। भगवान् करे, भुवन चार पैसे कमाने-लायक हो जाए। मैं तुझे उसके साथ भेज दूगी। हरीश भी पढ़-लिखकर आदमी बन जाएगा।"

भुवन बड़ी बहू का इकलौता बेटा था—स्वर्गीय पति की एकमात्र विरासत! वह अपने बडे चाचा के साथ रहकर शहर मे पढ रहा था।

दोनो बहुए मन का बोझ हल्काकर पानी की गागर लिए घर लौट आती।

नौकरी से छुट्टियो मे कुछ दिन के लिए रामदत्त घर आया हुआ था। एक दिन अचानक किसी बात को लेकर घर में कलह हो गई। सदा के शिष्ट-नम्र रामदत्त ने उस दिन तमककर पिता से कह दिया—"बाबूजी, आप कहें, तो मैं कैलाश को भी चिट्ठी भेजकर बुला लू और इस बात का फैसला हो जाए कि अगर इन लोगो से मिल-जुलकर नही रहा जाता, तो अलग-अलग क्यो नही हो जाते। भुवन को मै पढा रहा हूं। अपनी ओर से जितना हो सकेगा, मै भाभी की मदद कर दूगा और हरीश की मा की जिम्मेवारी कैलाश ले ले।"

हरिदत्तजी को आज तक जिस बात की आशका थी, अन्त में वही सामने आ खड़ी हुई। परन्तु रामदत्त के मुह से यह सुनने को मिलेगा, ऐसी आशा

उन्हे नही थी। असंयत स्वर मे वे बोले—"रामो ! जिस दिन मैं मर जाऊंगा, उस दिन तुम पहले बटवारा करना, फिर मेरी अर्थी उठाना। पर जब तक मैं जिन्दा हू, कभी ऐसी बात इस घर मे नही उठेगी। हमारे खानदान मे आज तक ऐसा नही हुआ है!" क्रोध और दुःख के मारे उनका शरीर कापने लगा और आखें भर आई।

वास्तव में, जब तक हरिदत्तजी जीवित रहे, फिर ऐसी बात घर मे नही उठी। पर एक दिन अचानक जब उनकी मृत्यु हो गई, तो परिवार धीरे-धीरे छटने लगा। पिता की मृत्यु के पश्चात् काम-काज पर लौटते समय रामदत्त अपने बाल-बच्चो को अपने साथ ले गया—[illegible] ने भी कुछ दिनो के बाद छोटी को बुला लिया। एकमात्र नन्हे हरीश को लेकर दोनो विधवाए उस कोलाहलहीन घर में शेष रह गई। [illegible] अथवा रामदत्त की ओर से जो थोडी-बहुत सहायता मिल जाती, उसके अलावा घर की खेती-बाडी ही उनके जीवन-यापन का साधन थी। कभी-कभी भुवन का पत्र आ जाता। हर प्रकार से मा को धीरज बधाने के बाद वह लिखता कि उसे जल्दी ही कही नौकरी मिल जाएगी। कई महीनो तक यह क्रम चलता रहा।

एक दिन भुवन का पत्र पहुचा कि वह वायु-सेना मे भर्ती हो गया, और अवसर मिलने पर मा-चाची, दोनो को अपने साथ ले जाएगा। [illegible] जीवन की बाते सोचते हुए बडी बहू का मन पुलकित हो उठा—देवर के प्रति आक्रोश हो आया कि भुवन के लिए उन्होने कही और कोशिश न कर उसे सेना मे भेज दिया है। परन्तु इसके दो दिन बाद [illegible] पहुचा। उसने लिखा था—"भुवन [illegible] इच्छा थी। चिन्ता करने की कोई बात नही है। [illegible] जगह उसे मिली है।' इसे पढ़कर [illegible]।

किन्ही कारणो से भुवन मा-चाची को [illegible] पर जब अन्तिम [illegible] से सहायता मिलनी बन्द हो गई थी। [illegible] गया। [illegible]

पारिवारिक जीवन की इस शिथिल गति में सहसा एक अद्भुत परिवर्तन हो गया। भुवन का पत्र आया कि उसे पाइलट अफसर के पद के लिए चुन लिया गया है। बड़े उत्साह से उसने पत्र लिखा था। पत्र के शब्द-शब्द मे उसकी प्रसन्नता झलकी पड़ती थी। बड़े विस्तार से उसने लिखा था कि कुछ ही महीनो में ट्रेनिंग के वाद उसे पाच सौ रुपये से भी अधिक वेतन मिलने लगेगा। अपने उज्ज्वल भविष्य का जैसा चित्रण भुवन ने किया था, वह अद्भुत था। वडी वहू को लगा, जैसे वह कोई स्वप्न देख रही हो। इतने वडे सुख की उसने कभी कल्पना भी नही की थी, इसी कारण आज उसका भार उसे असह्य प्रतीत होने लगा। वार-वार उसकी आखे भर आती। नन्हें हरीश और उसकी मा की प्रसन्नता की कोई सीमा ही नही थी। कुछ ही क्षणो मे गाव-भर में यह खवर फैल गई कि भुवन वड़ा अफसर वन गया है। जिसने भी सुना, वह वड़ी वहू को ववाई देने के लिए चला आया।

दो दिन वाद दो अलग-अलग स्थानों से रामदत्त और कैलाश की वहू के पत्र आ पहुंचे। छोटी वहू की ओर से उन्हे इससे पूर्व कभी पत्र नहीं मिला था। दो-चार पत्रों के उत्तर में कभी एक-आध पत्र आ भी जाता, तो वह कैलाश की ओर से लिखा हुआ होता था। दोनो ही पत्रों में भुवन की पदोन्नति पर असीम प्रसन्नता प्रकट की गई थी।

वड़ी वहू मेले के वीच खड़े हुए वच्चे की भाति चकित दृष्टि से सव-कुछ देखती-सुनती रही। अव भी जैसे उसे विश्वास नही हो रहा था कि भुवन उनके समाज का एक असामान्य व्यक्ति वन गया है।

कुछ दिनो वाद छुट्टियो में भुवन गाव लौटा। वह भरा-पूरा जवान हो गया था। उसकी वातें सुनकर मा को लगता कि वह कल का शर्मीला भुवन नहीं, कोई और है। भुवन के कारण ही जैसे गाव-पड़ोस में वड़ी वहू का सम्मान वढ गया था। लोग उसके सम्मुख पहले की अपेक्षा कहीं अधिक विनम्रता और आदर दिखलाते। हरीश की अगुली थामे भुवन गाव-भर का चक्कर लगा आता। स्नेह से मा उसे देखा करती, चाची की आखो मे आशीष झलकता।

छुट्टि
दत्त अ
ने पा
घ
त दी ।
ही वहू को
सकी प्रतीक्ष
एआश्चर्य
र-पाच दि
ां, तो रा
जाने से
वहार भी
मेवा-सत्व
वाज़ार
ीजो, अ
पहने र
बडी
, वहू ।
दिन है
भुवन
ी जेठ
ा व

भूमिका
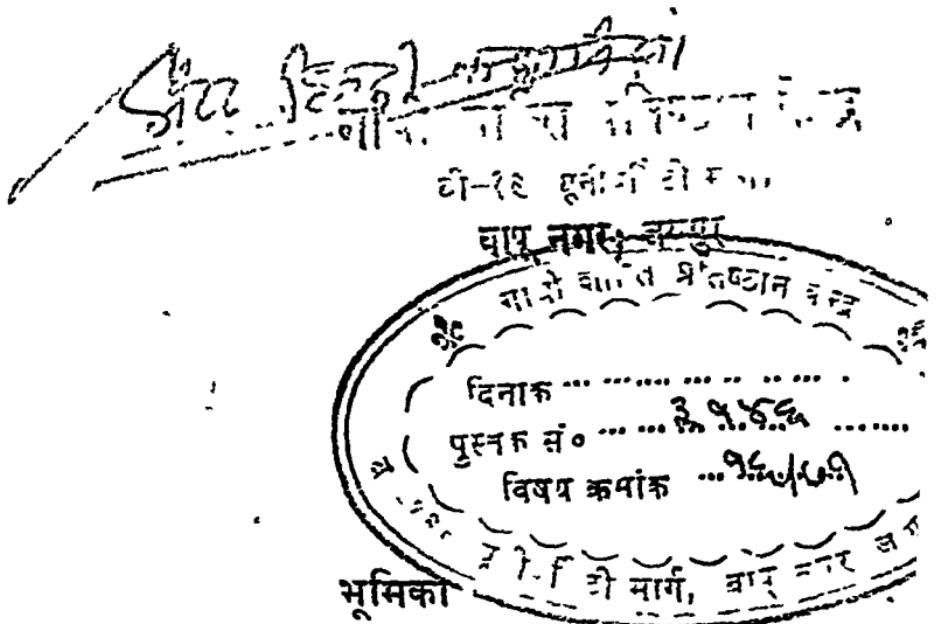
स्वाधीनता के उपरान्त लिखी गई २७ श्रेष्ठ हिन्दी कहानियो का यह संग्रह प्रकाशित करते हुए हमें विशेष सन्तोष और हर्ष का अनुभव हो रहा है। इस संग्रह में बाबू वृन्दावन लाल वर्मा (जिन्होने इस सदी के प्रारम्भ में कहानी लिखना शुरू किया था) से लेकर नई पीढ़ी तक के लेखकों की कहानियां हैं, पर ये सब की सब कहानियां पिछले ५ वर्षों में ही लिखी गई हैं।

उन्नीसवीं सदी के अन्त और बीसवीं सदी के प्रारम्भ में श्री किशोरीलाल गोस्वामी आदि ने बंगला कहानी से प्रेरणा लेकर कुछ किस्सनुमा कहानियां हिन्दी में लिखी थीं। पर हमारी राय से हिन्दी के प्रथम वास्तविक कहानी लेखक श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी थे, जिनकी 'उसने कहा था' शीर्षक कहानी हिन्दी में बहुत विख्यात है। हिन्दी कहानी के सौभाग्य से उसे अपने शैशव ही में प्रेमचन्द्र सी महान् प्रतिभा प्राप्त हो गई। इससे एक लम्बी मंजिल वह कुछ ही वर्षों में पार कर गई। बीसवीं सदी की पहली दशाब्दी

में (सन् १९०७) प्रेमचन्द ने उर्दू में कहानी लिखना प्रारम्भ किया था, पर वास्तव में, विशेषतः हिन्दी कहानी की दृष्टि से, उनका काल दूसरी और तीसरी दशाब्दी गिना जाना चाहिए। प्रेमचन्द के हिन्दी में कहानी लिखना प्रारम्भ करने से कुछ ही समय पूर्व जयशंकर प्रसाद और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कहानियां लिख रहे थे। इस तरह इन तीनों को एक तरह से समकालीन भी कहा जा सकता है।

हिन्दी कहानी की दृष्टि से इस सदी की तीसरी और चौथी दशाब्दियां अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। दूसरी दशाब्दी (१०२१ से १९३०) में विश्वम्भर नाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, शिवपूजन सहाय, राय कृष्णदास, भगवती प्रसाद वाजपेयी, उग्र आदि प्रतिभाएं भी हिन्दी कहानी को प्राप्त हुईं, जिन्होंने हिन्दी कहानी को खूब समृद्ध किया। हमारी राय में बीसवीं सदी का चौथा दशक (१९३१ से १९४०) हिन्दी कहानी का सर्वश्रेष्ठ काल था, जब पूर्वोक्त लेखकों के अतिरिक्त जैनेन्द्र-कुमार, अज्ञेय, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, कमला चौधरी, विष्णु प्रभाकर, अश्क, उषादेवी मित्रा, सत्यवती मल्लिक, मन्मथनाथ गुप्त आदि हिन्दी कहानी में नए-नए तत्वों का समावेश करने लगे। इन दो दशकों में हिन्दी कहानी जैसे एक सदी की मंजिल पार कर गई। और हमारी धारणा है कि १९३९ में हिन्दी कहानी विश्व-कहानी की तुलना में नगण्य नहीं रही थी। हिन्दी कहानी का स्थान यथेष्ट सम्माननीय हो गया था।

यह एक आश्चर्य की बात है कि प्रथम महायुद्ध के साथ-साथ जिस हिन्दी कहानी में असाधारण जीवन और निखार आया था, वही हिन्दी कहानी दूसरे महायुद्ध से कुण्ठित होने लगी। सन् १९३९ से १९५० तक के काल में एक स्पष्ट और लम्बा गत्यवरोध हिन्दी कहानी में दिखाई देता है। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उस युग में कहानियां लिखी ही नहीं गईं (यद्यपि संख्या की दृष्टि से भी इस युग में अपेक्षाकृत कम कहानियां लिखी गईं), अपितु हमारी उक्त स्थापना का अभिप्राय यह है कि इस युग में हिन्दी कहानी का स्तर न सिर्फ ऊंचा नहीं हो पाया, बल्कि सब मिलाकर हिन्दी कहानी का स्तर कुछ गिर ही गया।

वर्तमान दशक में हिन्दी कहानी में फिर से गति दिखाई देने लगी है। कितने ही श्रेष्ठ नए कहानी लेखक इस दशक में हिन्दी को उपलब्ध हुए हैं : मोहन राकेश, अमृतराय, रामकुमार, भीष्म साहनी, कृष्ण बलदेव वैद, राजेन्द्र यादव, कृष्णा सोवती, कमलेश्वर, शेखर जोशी, ओमप्रकाश श्रीवास्तव आदि। इन नए लेखकों से हिन्दी कहानी को निस्सन्देह नया बल मिला है। देश में जिस तरह सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां तेजी से बदल रही हैं, उनका प्रभाव साहित्य के अन्य सभी अंशों के समान हिन्दी-कहानी पर भी पड़ रहा है। परिणामतः हिन्दी कहानी का कल्पना क्षेत्र पहले की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता चला जा रहा है।

यह पूछा जा सकता है कि विश्व कहानी की तुलना में हिन्दी कहानी की विशेषता क्या है अथवा उसकी विशेष उपलब्धियां क्या हैं? हम कहानी को पूरी तरह विश्वजनीन मानते हैं। हमारी राय से कहानी नामक यह साहित्यिक माध्यम अन्य सब माध्यमों से अधिक सार्वभौम है। एक अच्छी कहानी संसार की किसी भी भाषा में अनुवादित होकर संसार के किसी भी देश में अच्छी कहानी मानी जाएगी। जबकि साहित्य के अन्य माध्यमों के सम्बन्ध में यह बात पूरी तरह लागू नहीं होती। इस तरह कहानी के क्षेत्र में किसी एक देश की उपलब्धि अन्य देशों की उपलब्धियों से विशेष भिन्न नहीं होने पाती। हां, कहानी में भी देशीय रंग, देशीय प्रभाव और देशीय वातावरण स्वभावतः पृथक्-पृथक् होता है। हिन्दी कहानी में आज, शायद भारतीय परिस्थितियों के कारण, व्यंग्य, झुंझलाहट और कुछ अंश तक निराशाजनक कटुता भी दिखाई दे रही है, जबकि हिन्दी कहानी के उत्थान काल (१९२१ से १९४० तक) में वह आदर्शवाद, देशप्रेम और त्याग आदि की भावनाओं से अनुप्राणित थी। वह भी शायद परिस्थितियों का ही प्रभाव था। यहां हम यह स्पष्ट कर दें कि कहानी की श्रेष्ठता का माप उनका विषय नहीं है। श्रेष्ठता का माप विषय के निर्वाह पर अधिक निर्भर करता है। हमारी यह निश्चित धारणा है कि साहित्य का यह माध्यम प्रायः वहीं सफल और प्रभावशाली सिद्ध होता है, जहां यह आधारभूत सत्यों और तत्वों को छूता है। अब सचाई यह है कि मानव हृदय के आधारभूत तत्व और वास्तविकताएं अच्छी बुरी दोनों तरह

की है। इससे इस बात का इतना महत्त्व नहीं रहता कि कहानी का विषय किस श्रेणी का है। पर यदि लेखक अपने को निस्संग नहीं रख पाया तो उसकी रचना कभी उच्चकोटि की नहीं हो सकेगी।

यह संग्रह वर्तमान हिन्दी कहानी का यथेष्ठ प्रतिनिधित्व करता है। हिन्दी के कहानी के प्रायः सभी प्रचलित रूप इस संग्रह में सम्मिलित हैं। ये सब कहानियां पिछले कुछ वर्षों में 'आजकल' में प्रकाशित हुई हैं। हमें विश्वास है कि हिन्दी में इस संग्रह का स्वागत होगा।

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक

—१४ नवम्बर १९५९

सूची

गीली मिट्टी

अमृतराय

नींद में ही जैसे मैंने माया की आवाज़ सुनी और चौंककर मेरी आंख खुल गई। बगल के पलग पर नज़र गई, माया वहा नही थी। आज इतने सवेरे माया कैसे उठ गई, कुछ बात समझ मे नही आई।

आवाज़ दरवाज़े पर से आई थी। मै हडबडाकर उठा और करीब पहुचा, तो क्या देखता हू कि माया दरवाज़ा खोले खड़ी है और बाहर के बरामदे में एक दुबला-काला आदमी, मझोले कद का, सिर्फ एक ज़रा-सी लुगडी लपेटे, बाकी सब बड और टागें नगी, उकड़ू बैठा है। माया दरवाज़ा खोलने आई तो आज सबमे पहले इसी आदमी के दर्शन हुए। मैंने भी देखा और मुझे भी गुस्सा आया कि यह मरदूद यहां कैसे आ मरा। मैंने डपटकर पूछा—"कौन हो तुम? यहां कैसे आए?"

दोनों ही सवालो का जवाब आसान था—मैं एक गरीब भिखमगा हूं, जिसके सर पर छप्पर नही है। या—जी नही, शिकरम नही ली, यों ही चलकर आ गया। मगर उसने कोई जवाब नही दिया, जो कि मुझे और भी खला और मैंने आवाज में और भी तेज़ी लाते हुए कहा—"बोलता क्यो नही? बहरा है?"

फिर भी कोई जवाब नही। जवाब हो भी क्या सकता था, अगर वह सचमुच बहरा था। मगर कौन कह सकता है कि वह बहरा था ही, आजकल इस तरह के बने हुए आदमी . . .

लेकिन वाक्य पूरा करने के पहले ही मुझे लगा कि यह मैं गलत बात कह रहा हूं। बने हुए आदमी दिन के वक्त भेस बनाकर भीख मांगा करते हैं—इस तरह रात को किसी के बरामदे में आकर सो नही जाते, जाडे की ऐसी रात में। और, मेरा ध्यान उसके ओढने-बिछौने पर गया। बिछौना निखहरी ज़मीन और ओढ़ना टाट का एक घिरा हुआ पौन गज का टुकड़ा (और हा एक चिक भी, जो उसने हमारे दरवाज़े से उतारकर अपने ऊपर डाल ली थी)। उस वक्त, जबकि एक गद्दे और एक लिहाफ से भी हमारा काम ठीक से नही चलता—जी होता है कि और कुछ ओढ़ लें—कैसे कटी होगी इसकी रात? नीद तो क्या आई होगी! दांत बजते रहे होगे, जाघो में हाथ डाले राम का नाम जपता पड़ा रहा होगा, या शायद टहल-टहलकर ही रात काटी हो। किसने देखा है? और, किसको दिखाने के लिए यह शक्ल बनाई है? इन ठंडी सूनी दीवारो को? बने हुए आदमी! यह क्या बना हुआ आदमी है? और अपनी बात खुद मुझे सालने लगी।

मगर उस आदमी को इस समय की मेरी आत्मपीड़ा से भी उतना ही कम प्रयोजन था, जितना दो मिनट पहले की कठोरता से। ठिठुरते हुए हाथो से चिक को दरवाज़े पर टागने के बाद वह अब कच्चे पपीते के बीज, जो तमाम बिखरे हुए थे, बटोरकर एक जगह कर रहा था। लगता है, उसने हमारे ही पेड़ से एक कच्चा पपीता तोड़कर उससे अपनी भूख बुझाने की कोशिश की थी। लेकिन अभी शायद वह पूरी तरह जानवर नही बन पाया था, इसीलिए पूरा पपीता नही खा सका था। आधा टुकडा किसी तरह नोच-नाच कर वह खा गया था और आधा ज्यो-का-त्यो पड़ा था। पपीते के बीज सब इधर-उधर छिटके हुए थे, जिन्हें अब वह बटोर रहा था।

पता नही, क्यो उसे इस बात का खयाल आया। वह यह भी सोच सकता था कि जिसका घर है, वह सफाई करवा ही लेगा। मगर नही, वह जानवर नही है कि सफाई का उसे कोई खयाल न हो। जहां उसने रात गुज़ारी है—जहा से अब वह जा रहा है—उस जगह को गंदा करके वह नही जाना चाहता। मैं नही कह सकता कि उसके दिल में क्या बात थी! हो सकता है, बस इतनी ही बात रही हो कि यह सब गदगी साफ

कर दो, नही तो साहव नाराज़ होगे और शायद अपने नौकर को वुलाकर दस-पांच लात-घूमे लगवा देंगे। जो भी वात उसके दिल में आई हो और जो भी उसके पहले के तजुर्वे रहे हो, मै कुछ भी नही जानता। मैंने वस इतना देखा कि वह जाडे के मारे ठिठुरती हुई उंगलियो से जैसे-तैसे गदगी इकट्ठी कर रहा है।

पता नही, कैसे-कैसे लोगो से उसका पाला पड़ता होगा, क्या-क्या उस पर वीतती होगी, दुनिया को यह कैसा समझता होगा! आज इन्सान जिस तरह तरक्की करता हुआ हज़ारो साल पीछे पहुच गया है, जवकि वह पहाड़ की गुफाओ और जंगलो में रहता था और इसी तरह नंगा घूमता था, और शायद इसी तरह कच्चे पपीतो पर वसर करता था। इस तरक्की में इस आदमी का क्या हाथ है? और, मुझे पता नही क्यो, उस पर वेहद तरस आया। इस वात पर कि दुनिया में उसका कोई न था, उसके पास कही अपनी एक नन्ही-सी कोठरी भी न थी और वस, इसी आसमान के छप्पर के नीचे उसकी रातें वीतती थी, और यह कि इस ठिठुरती हुई सर्दी में उसके तन पर वस एक लुगडी थी और वह गाय-वैल की तरह कच्चा पपीता खा रहा था।...मगर इन सव वातो से ज्यादा इस वात पर कि उसने एक शव्द भी नही कहा। यह नही कि वह गीता का प्रवचन देने लग जाता, या आल्हा सुनाने लग जाता, मगर फिर भी कुछ तो वह कह ही सकता था। वह मेरे सामने गिडगिड़ा सकता था, रो सकता था। मगर उसने तो कुछ भी नही किया, वस उठकर वैठ गया और चलने की तैयारी म जगह की सफाई करने लगा। उसने न कोई शिकायत की और न कोई फरियाद। कैसा अजीव आदमी है! इसने हमसे अगर खाना खिलाने की तलव की होती, तो क्या हम उसे खाना न खिला सकते थे, या कहा होता था, तो तन ढाकने के लिए दो-एक कपडे न दे सकते थे? मगर अव शायद उसे इन्सान से इतनी भी उम्मीद वाकी नहीं रही थी। अव तो शायद वह सिर्फ इसलिए जी रहा था कि मौत नही आती थी और अगर किसी तरह न आई, तो एक रोज़ खुद जाकर हाथ पकड़कर उसे खीच लाएगा और फिर उसी घिसे हुए टाट के कफ़न में लपटकर कोई मेहतर उसे घसीटकर कही फेंक आएगा।

कहानी कहने में जितनी देर लगती है, वाकये में उतनी देर नहीं लगती। अब उसने सब चीज इकट्ठे कर लिए थे और उन्हे फेंकने बाहर जा रहा था। इस वक्त मैंने उसे बतलाना जरूरी समझा कि इस तरह किसी के घर में घुस आना ठीक नही होता। अब फिर कभी मत आना। मगर अपने ही कानों में मुझे अपने ये शब्द खोखले सुनाई पड़े।

वह लौटा और अपना टाट उठाकर चला गया। मैं हक्का-बक्का उसे देखता रहा। मैं कुछ समझ नही पा रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए। तब तक वह काफी दूर चला गया था। मैंने माया से कहा—"एक कुर्ता-पाजामा तो दे देते उसे और हा, एक रुपया भी लेती आना!"

और तब, मैंने भोर के धुंधलके में उस आदमी को आवाज दी—"ओ आदमी! ओ आदमी!" क्योंकि उसका नाम मुझे नही मालूम था।

वह लौट पड़ा। माया ने लाकर एक कुर्ता-पाजामा और एक रुपया मुझे दिया और मैंने बाहर निकलकर दोनो चीजें उसके हाथ में दे दीं। दोनो कपडे और रुपया लेकर भी उसने कुछ नही कहा, कुछ भी नही! वह जैसे आया था, वैसे ही चला गया। मैं कुछ देर तक उसे देखता रहा और फिर, पता नही क्यो, मुझे बहुत जोर से रुलाई छूटी और मुझे अपनी आखें नम होती मालूम हुई और फिर अच्छी तरह आंसू बहने लगे। मुझे खुद अपनी इस हालत पर बडी हैरानी थी, क्योंकि मैं किसी मानी में बहुत नर्म दिल का आदमी नही हूं। मगर फिर भी, हर बार जैसे एक लहर-सी उठती थी, जो आकर मुझसे टकराती थी और मुझे भिगोकर चली जाती थी। माया तब तक भीतर दरवाजे पर ही खड़ी थी और मै नही चाहता था कि वह या कोई भी मेरे इन बचकाने आंसुओ को देखे। मैं बाहर सड़क पर निकल गया और घूमने लगा। मगर मैं घूम नहीं रहा था—रो रहा था, जैसे रह-रहकर कोई मेरे दिल को मसोस रहा हो।

माया जाने को हुई, तो उसने पुकारकर कहा—"भीतर चलो न, वहां क्या कर रहे हो?"

अपनी आवाज की भर्राहट को छिपाने की कोशिश करते हुए मैंने कहा—"अब नींद थोडे ही आएगी, अच्छी तरह सवेरा हो गया है।"

और, फिर कोई पन्द्रह मिनट तक मैं वहीं घूम-घूमकर रोता रहा। शायद बरसों बाद मैं इस तरह रोया था। मुझे अपने ऊपर कुछ हैरानी भी मालूम हो रही थी, कुछ शर्म भी आ रही थी और यह सोचकर कुछ खुशी भी हो रही थी कि मेरा दिल अभी मरा नहीं है। मैं नहीं जानता, हो सकता है, इसीलिए मैंने अपने आसुओं को कुछ ढील भी द रखी हो। मगर इतना मैं जानता हूं कि वे वेईमान आसू न थे— शायद उस आदमी के दिल की घुटन थी, जो इस वक्त मेरे आंसुओ की शक्ल में बाहर आ रही थी, क्योंकि मुझे लगता है कि जैसे कभी आग के एक ही गोले से छिटककर यह सारी सृष्टि बनी थी, वैसे ही किसी कुम्हार ने गीली मिट्टी के एक ही गोले से सब इन्सानो के दिल भी बनाए थे और उनका साज़ कुछ इस तरह मिलाकर रख दिया था कि एक का दर्द दूसरे के सीने में जाकर बजने लगता है।

रुक्मा

इलाचन्द्र जोशी

रुक्मा सोच रही थी कि ऐसा कैसे हुआ। प्राय. दस वर्ष उसे अपना घर छोड़ कलकत्ता आए हो गए थे। जब से कलकत्ते आई, तब से बराबर खिदिरपुर के उसी गलीवाले पुराने मकान मे कभी ऊपर और कभी नीचे के तल्ले के सील-भरे कमरे में उसके दिन बीते और रातें भी। विवाह होने के बाद केवल एक बार—पहले ही वर्ष—वह पहाड पर कुछ दिनो के लिए अपने मायकेवालों से मिली थी। तब वह १६ साल की नई ब्याही बहू थी और उसका पति कमलापति उसके प्रति सदय था। तब उसके बर्ताव मे कोमलता थी और आज के-से रंग-ढंग नही थे। जब वह वापस गई थी, तब पति ने उसके लिए दो-चार नई साड़िया खरीद दी थी, जो बहुत भड़कीली थी और उसके गरीब पहाड़ी गाव के लिए अनोखी और अपूर्व थी। एक नए बक्स के भीतर वह खुशबूदार तेल की बढ़िया तस्वीरवाली रंगीन शीशी, रंगीन ही कघी, शीशा, पाउडर, किस्म-किस्म की रंग-बिरंगी चूडिया, तरह-तरह की चमकीली बिन्दिया, बढिया सिंदूर, आदि बहुत-सी चीजें बन्द करके ले गई थी। लम्बी यात्रा के बाद जब वह गाव पहुंची थी, तब उसका पोशाक-पहनावा, रंग-ढंग, साज-सजावट, गुलाब-से खिले चेहरे की चमक और सुन्दर-प्रसन्न आंखो की दमक देखकर उसकी सहेलिया चकित रह गई थी। जैसे वह उनकी बचपन मे पहचानी रुक्मा नही, स्वर्ग-लोक मे उतरी कोई परी हो। अपने मैले-कुचैले,

खेत की मिट्टी से सने कपड़ो से उससे लिपटने का साहस किसी को नहीं होता था। वे केवल अपनी भोली, प्रसन्नता-मिश्रित, विस्मय-भरी आखों से उसकी ओर टुकुर-टुकुर देखती रह गई थी। रुक्मा स्वय ही आगे वढकर, एक-एक करके, सभी सहेलियो के गले मिली थी। पर वह देख रही थी और अनुभव कर रही थी कि वे सभी पहले की-सी निश्छलता और स्वच्छन्दता से अव उससे नही मिल पाती थी। वह सचमुच उनसे अव वहुत दूर पड़ गई थी। इस अनुभव से उसका भोला हृदय रो पड़ा था। उसने वार-वार कोशिश की थी कि उसकी सखियां उसे पहले की ही रुक्मा समझकर हिलें-मिलें और पहले की ही तरह वेतकल्लुफी से खेलें-कूदें और वातें करें, पर उसका कोई फल नहीं हो पाता था। ऐसा नही कि वे अव उसे प्यार न करती हो—उसे देखकर सभी की आंखे प्यार और प्रसन्नता से भर-भर आती थीं, पर साथ ही संभ्रमभरी ईर्ष्या का जो एक सुस्पष्ट भाव उनकी आंखो में झलकता था और उनके वर्ताव से प्रकट होता था, वह रुक्मा को अपने लिए वड़ा ही घातक और मारक लगा था। उसे लगा था कि वह अपनी सखियो से और अपने घरवालो से केवल पहाड़ से कलकत्ते जाकर ही दूर नही हुई, उनके निकट आने पर भी वह दूरी वैसी-ी-वैसी वनी रह गई है, वल्कि और अधिक वढ गई है। एक महीने मायके रहकर जव वह उन सव लोगों से विदा होने लगी थी, तव उसके पति, चाचा और विधवा फूफी के अतिरिक्त उसकी सखिया और गाव की कुछ वड़ी-वूढिया भी उसे प्राय. दो मील तक पहुचाने गई थी। सवको लग रहा था, जैसे गांव से कोई वडी निधि जा रही हो। वह घर में रंगाई गई वड़ी-वड़ी लाल वुंदकियोंवाली पिछौरी के नीचे कत्थई रंग का लहंगा पहने थी। नाक के कुछ ही ऊपर से मांग तक उज्ज्वल लाल रंग का एक लम्वा टीका उसके मस्तक की शोभा वढा रहा था। सभी समवयसी और जवान स्त्रियो को उसके सौभाग्य पर ईर्ष्या हो रही थी और वे सव उसके प्राय. सैंतीस-अड़तीस साल की उम्रवाले पति की ओर ललकती हुई आखो से देख रही थी—उसे रुक्मा के इतने वडे भाग्य का विधायक जानकर दो मील के वाद

सभी स्त्रियां वापस जाने लगी। रुक्मा ने फूफी और बड़ी-बूढ़ियों को प्रणाम करके और सखियो के गले मिलकर गीली आंखो से सबसे विदाई ली। उसके बाद रह गए उसके चाचा, उसका पति, एक कुली और वह स्वयं। मोटर-स्टेशन तक पहुंचने के लिए तीन मील और चलना था। कुछ दूर तक चढ़ाई पर चलने के बाद उतार आ गया और वे लोग तेज़ कदम रखते हुए अन्तिम मोटर के छूटने के कुछ ही समय पहले पहुंचे। मोटर पर उन लोगो को चढ़ाकर चाचा भी रुक्मा का प्रणाम लेकर और स्नेह-रस से भरी और विछोह की व्यथा में डबडबाई आखो से दोनो को आशीर्वाद देकर विदा हुए। मोटर संध्या को काठगोदाम पहुंची। तब तक गाड़ी नही छूटी थी। जब रुक्मा पति के साथ गाड़ी पर इत्मीनान से बैठ गई, तब चारो ओर के पहाड़ो को उसने एक बार जी भर कर देखा। एक ठंडी आह उसके अन्तर से निकल आई। गाड़ी छूटी और उसने मन-ही-मन उन हरे-भरे पहाडों को प्रणाम किया।

तब से फिर कभी उन पहाड़ों के दर्शन उसे नही हुए। पूरे दस वर्ष बीत चुके थे। तब की स्थिति में और आज की स्थिति में कितना बड़ा अन्तर आ गया, वह यही सोच रही थी। गर्मी के दिन थे, दोपहर का समय था। भीतर से दरवाज़ा बन्द करके वह फर्श पर लेटी हुई थी। उसका पति दफ्तर में था और वह घर पर अकेली थी। पति कमलापति जहाज़ की किसी कम्पनी के माल के दफ्तर में एक साधारण क्लर्क की हैसियत से काम करता था। लड़ाई के ज़माने में उसने दूसरे कर्मचारियो के साथ मिलकर हजारो रुपया कमाया था। तब अन्धा-धुन्ध और बेहिसाब का माल सिपाहियो के लिए बाहर जाता था और आता था। उसकी लूट भी बीच में उसी अन्धाधुन्ध तरीके से होती थी। कमलापति मालामाल बन गया था—शराब में, जुए में और दूसरे अपकर्मों में दोनो हाथो से रुपए लुटाता था। उन्ही दिनों उसके पहले विवाह की स्त्री की मृत्यु हो गई। दूसरा विवाह करने के लिए वह घर गया। उसने अपने आदमियो से कहा कि वे एक अच्छी लडकी ढूंढें और इस बात की तनिक भी परवाह न करें कि लड़की के घरवाले

गरीब हैं या धनी—सामाजिक दृष्टि स ऊचे हैं या नीचे। लड़की सुन्दर चाहिए, बस। फलस्वरूप रुक्मा का आविष्कार हुआ। वह वास्तव मे वहुत सुन्दर थी। वह स्वय भी प्रति दिन सखियो के मुह से अपने रूप की प्रशसा सुनते रहने और स्त्री-पुरुषो की ललचाई आखो को अक्सर अपनी ओर गड़ी हुई देखने से यह जान चुकी थी कि उसके चेहरे में कुछ विशेषता है। जो भी हो, एक दिन कमलापति स्वयं अपनी आंखो से देखने के लिए वढिया सूट-बूट और कालर-टाई से सुसज्जित होकर, एक छडी हाथ में लेकर, जव रुक्मा के गाव में पहुचा, तव रुक्मा अपनी गाय के लिए घास का एक गट्ठर सिर पर लादकर जा रही थी। उस दिन की याद रुक्मा को अच्छी तरह थी। उसने कमलापति को देखकर समझा था कि कोई वड़ा सरकारी अफसर होगा। वह सहम गई थी और भय से कापने लगी थी। भय का कारण वह स्वयं नही जानती थी। और, जव उसने देखा था कि उस 'अफसर' के साथ के दो आदमी उसी की ओर उंगली से इशारा कर रहे हैं, तव तो उसके भय का ठिकाना न रहा था। धड़कते हुए हृदय से वह तेज़ी से अपने घर की ओर भागी थी।

कमलापति को पहली ही दृष्टि में वह पसन्द आ गई। वह उसके चाचा से मिला। रुक्मा के माता-पिता दोनो ही वहुत पहले गुज़र चुके थे। उसके चाचा और विधवा फूफी ने उसे पाल-पोसकर वडा किया था। वे लोग वहुत ही साधारण किसान थे। उस दिन केवल मिलना ही हुआ। उसके वाद एक दिन कमलापति के आदमियो ने विवाह की वातचीत चलाई, तव चाचा को अपने भाग्य पर पहले विश्वास नहीं हुआ। वर की उम्र लडकी से प्राय: ढाई गुना अधिक जानकर भी उनके उत्साह में कमी नही आई। पढा-लिखा, पैसेवाला, उन लोगो की अपेक्षा कई गुना अधिक ऊंचे कुलवाला वर उन लोगो को कहा मिलता? फलत: शादी तत्काल तय हो गई और रुक्मा जल्दी ही एक दिन 'अफसराइन' वन गई। गाव के लोग सचमुच उसे स्नेहपूर्ण परिहास में 'अफसराइन' कहने लगे। वह सुनती, सिर नीचा करके मुस्कराती और मन-ही-मन गर्व का अनुभव करती।

रुक्मा को कलकत्ते लाने पर, प्रारम्भ मे प्राय· एक वर्ष तक, कमलापति ने काफी आराम और प्यार से रखा। वह अक्सर उसे टैक्सी पर विठाकर कभी सिनेमा दिखाने ले जाता, कभी थियेटर। कभी छुट्टी के दिन घुड़दौड़ के मैदान में ले जाता, कभी बोटैनिकल गार्डेन की सैर कराता। तरह-तरह की रंग-विरंगी साड़िया और गहने भी उसने उसके लिए खरीदे। एक वगाली नौकरानी उसके साथ के लिए रखी। चूल्हा-चौका करनेवाली नौकरानी अलग से आती थी। रुक्मा पहाड़ से विछोह का अनुभव सब समय करते रहने पर भी एक प्रकार से खुश थी। पति का प्यार पाकर उसे सन्तोष था, हालांकि तब भी कमलापति अक्सर रात मे देर से आता और जब आता, तो उसके मुंह से विकट दुर्गन्ध आती और उस हालत में उसका व्यवहार जंगलियो और उजड्ड लोगों का-सा रहता। फिर भी, वह सन्तुष्ट थी, क्योंकि तव वह जानती थी कि वह उसे प्यार करता है।

पर दूसरे ही वर्ष से स्थिति एकदम वदल गई। लड़ाई खत्म हो गई और सिपाहियो के लिए अन्धाधुन्ध माल का भेजा जाना एकदम वन्द हो गया। कमलापति और उसके साथियो की ऊपरी आमदनी प्राय: शून्य के वरावर रह गई। केवल वेतन शेष रह गया, जो डेढ-सौ मे अधिक नही था। 'सुकाल' के दिनो में जो हज़ारों रुपए उसने कमाए थे, उनमें से एक पाई भी वचा नही पाया था। जितने भी रुपए हाथ में आते गए, उन्हें वह मुक्तहस्त होकर फूकता चला गया था।

रुपया चला गया था, पर विगड़ी हुई आदते वची रह गई थी। शराव का चस्का नही छूट पाता था और जुए की ठल्लत घटने की वजाय और वढ गई थी। रुपया न रहने पर किसी भी हताश आदमी के लिए जुआ यो भी एक वहुत वड़ा आकर्पण वन जाता है—फिर, जिसे पहले से ही आदत पडी हुई हो, उसे तो उन हालत में जुए के पीछे अपना सर्वस्व गवाकर भी सन्तोप नही हो सकता। फल यह हुआ कि एक-एक करके रुक्मा के गहने गायव होते चले गए। दोनो नौकरानिया अलग कर दी गई। सिनेमा और थियेटर जाना तो वन्द हुआ ही, कमरे से

बाहर निकल पाना भी रुक्मा के लिए दुश्वार हो गया। पहले उसी मकान के ऊपर जो दो अच्छे और हवादार कमरे कमलापति ने किराए पर ले रखे थे, उनका किराया ज्यादा होने के कारण सबसे नीचे के तल्ले में सील और बदबू से भरा एक कमरा, जो संयोग से खाली ही पड़ा था, सस्ते किराए पर ले लिया। रुपये-पैसे की तगी के कारण कमलापति के स्वभाव में भी बहुत बड़ा अन्तर आ गया। केवल उसके मिजाज में ही चिड़चिड़ापन नही आया, बल्कि वह शक्की भी हो गया। बात-बात में वह रुक्मा के चरित्र के सम्बन्ध में सन्देह प्रकट करने लगा। दिन में अपने निपट अकेलेपन से उकताकर वह कभी-कभी उसी मकान में ऊपर के तल्ले के अपने पुराने पड़ोसियो के यहा स्त्रियों के साथ बैठने चली जाती थी। दो परिवारो से उसकी विशेष घनिष्ठता थी, जिनमें एक बंगाली था और दूसरा पजाबी। बगाली से भी अधिक पजाबी-परिवार से उसका हेलमेल था। वह न तो बगला ही ठीक से समझ पाती थी, न बंगाली हिन्दी। पंजाबी-परिवार की स्त्रियो को वह अपने अधिक निकट पाती थी। एक दिन कमलापति दफ्तर से कुछ जल्दी चला आया। रुक्मा को ढूढने पर पता चला कि वह ऊपर के तल्ले में पंजाबियो के कमरे में है। जब रुक्मा नीचे आई, तब उसने उसे बुरी तरह डाटना और बुरा-भला कहना आरम्भ कर दिया। क्रोध से कापता हुआ वह बोला—"मैं जानता हू कि ऊपर जो एक पजाबी छोकरा रहता है, वह जवान है और मुझसे ज्यादा खूबसूरत है। इसी लिए उस पर तुम्हारी नजर गड़ी हुई है। यह न समझना कि मैं अन्धा हू। तुम दोनो को एक दिन वह मज़ा चखाऊगा ···"आदि-आदि।

पहले तो रुक्मा कुछ समझ ही न पाई। पर दूसरे ही क्षण उसकी बात के भीतर छिपा हुआ एक अस्पष्ट सकेत उसके आगे धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। वह थर-थर कापती हुई मूढ दृष्टि से उसकी ओर देखती रह गई। उसकी ओर देखते हुए पहली बार उसे लगा कि वह इधर सचमुच पहले से बहुत कुरूप हो गया है। कमलापति की हिंस्र आखो के इर्द-गिर्द, उसके कपाल में और गालो पर जो टेढी-मेढी झुर्रिया इधर कुछ समय में पड गई थी, वे इस समय और अधिक

विकट और भयकर दिखाई देने लगी। देखकर वह इस कदर डर गई कि उसके मुह से अपनी सफाई में एक भी शब्द नही निकल पाया। उसने चुपचाप उसकी ओर से पीठ फेर ली और अगीठी में कोयले डाल कर चाय का पानी चढ़ाने की तैयारी करने लगी।

आज सुवह जो घटना घट चुकी थी, उसी सिलसिले मे रुक्मा को सीमेंट पर लेटे-लेटे वे सव पुरानी वातें एक-एक करके याद आ रही थी। वह सोच रही थी कि एक ओर वह इस कदर शक्की वन गया था और दूसरी ओर यह हाल था कि जव कभी कोई आगा व्याज का रुपया वसूल करने के लिए सवेरे ही घर आकर दरवाज़ा खटखटाता, तव वह स्वयं गुसलखाने मे छिप जाता और रुक्मा से कहता कि दरवाज़ा खोल कर उससे कह दो कि घर पर नही है—दो-एक दिन वाद स्वय तुम्हारे घर जाकर रुपए दे आएगे। आगा लोगो की आकृति, गुण, स्वभाव, चरित्र और पेशे के सम्वन्ध में रुक्मा को कोई जानकारी नही थी। जव पहली वार उसने एक भीमकाय आगा को लम्वी लाठी हाथ में लिए दरवाजे पर खड़ा देखा और विचित्र उच्चारण के साथ उसका गर्जन सुना, तव उसे लगा कि मारे भय के वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ेगी। किसी तरह कापते हुए गले से उसने अपने पति की वात अपनी ओर से दुहराई। आगा ने गरजते हुए कहा—"परसों रुपया जरूर मिल जाना चाहिए, नही तो नतीजा अच्छा न होगा।" सुनकर रुक्मा ने हडवड़ाते हुए दरवाजा वन्द कर लिया और दु ख, क्रोध, लज्जा और भय से रो पड़ी।

अक्सर शनिवार को रात-भर और इतवार को दिन-भर कमलापति के यहा उसके जुआरी साथियो की वैठक जमती। कमरे के आर-पार एक काला पर्दा टाग दिया जाता। एक-चौथाई भाग मे रुक्मा सिकुड़कर वैठी या लेटी रहती और शेप तीन-चौथाई भाग मे जुआ होता और देसी शराव के दौर चलते रहते। वीच-वीच में जुआरी वुरी तरह लडते-झगडते और एक-दूसरे को वहुत गन्दी और अश्रव्य गालिया देने लगते। सुनकर रुक्मा का शरीर और मन लज्जा, घृणा और ग्लानि मे कटकित हो उठता। फिर, कुछ ही समय वाद, अट्टहास और

फिर सहसा उसका हृदय धड़क उठा—यह सोचकर, कि कही सचमुच उसकी शादी हो न गई हो और वह भूल रही हो। गोल से अलग होकर वह शकित हृदय से एक अधेड़ स्त्री के पास पहुंची, जो एक किनारे खड़ी थी। "तुम्ही बताओ मौसी, क्या मेरी शादी हो गई है ?"—रुक्मा ने पूछा। पर उस औरत ने कोई उत्तर नही दिया। इसी तरह, तीन-तब र औरतो से उसने बड़ी ही चिन्ता के स्वर में पूछा, पर सब मुस्करा उस्र चुप रह जाती थी—कोई कुछ उत्तर नही देती थी। वह पागलो की तरह इधर-उधर दौड़ने लगी। कौन करेगा उसकी शका का पराधान ? क्या सचमुच उसकी शादी हो चुकी है ? नही, नही, ऐसा गन्दी नही हो सकता। उसके साथ की इतनी लडकियो में से जब किसी होताादी नही हुई, तब उसी की क्यो होगी। पर ये लोग छने पर भी कहह्न जवाब क्यो नही देते ? वह उसी घबराहट में पुरुषो मे पहुची। भी्ह एक-एक करके सबको पहचानने की कोशिश करने लगी। जिसे भी देखती, पहली झलक मे उसे लगता कि उसे वह पहचानती है, पर फिर उसका रूप बदल कर कुछ-का-कुछ हो जाता। सहसा उसने लखा कि कमलापति भी उसी मडली में नाचता हुआ गा रहा है। "ये लोग कौन है ?"—उसने अपने-आप से पूछा—"यह मैं कहा आ गई ? मुझे दूसरी जगह जाना चाहिए।" दूसरे ही क्षण वह मडली की बैठक में बदल गई। "नही, मैं तो यहां नही थी। मुझे भागना बदलहए।" यह सोचती हुई वह दौडकर नीचे की ओर गई। वहां अठारह साल के एक लडके को देखकर उसने पूछा—"सुनो जी, ए कौन हो ?" वह लड़का मुस्कराया और उसकी आकृति लेट गई मे स्पष्टतर होती गई। पहचानकर वह उल्लास में उछल थी। साढे-पा उसकी सारी घबराहट जाती रही। वह तिलोकसिंह कमलापति ने पुराना साथी, दोपहर में गायो और भैंसो को चराता उसका पाव खुज पर पीठ अड़ा कर बड़े ही मीठे स्वर में वशी जागरण की-सी अ

बात है ?" और किया, तू यहां कहा ? तू ही बता, क्या मेरी शादी हो कमलापति ने पूरी

"नहीं पगली, अभी से तेरी शादी कैसे होगी ! तू क्या सपना देख रही है ? जब मेरी शादी होगी, तब तेरी भी होगी । बैठ, मैं बंशी बजाता हूं, तू सुन ।"

चैन की सांस लेती हुई रुक्मा बैठ गई । तिलोकसिंह जेब से बंशी निकालकर बजाने लगा—वही पुराना मीठा, उदासी से भरा, पहाड़ी राग ! रुक्मा मग्नमन होकर तिलोकसिंह के सरस, सहृदयता से भरे, सुन्दर मुख की ओर एकटक देख रही थी । इतने मे होली के राग-रंग मे मस्त स्त्रियो और पुरुषो की सम्मिलित टोली पहले की ही तरह मस्ती मे गाती हुई वहां पहुंच गई । रुक्मा फिर निश्चित और भार-मुक्त मन से उनके साथ मिल गई और पूरी ताकत से उनके उल्लसित स्वर में स्वर मिलाती हुई, नाचने और कूदने लगी । एक अलौकिक उन्माद—एक स्वर्गीय रोमांच—से उसका सारा शरीर, सम्पूर्ण हृदय और समग्र आत्मा पुलकित हो उठी थी । तिलोकसिंह भी उसके उल्लास से प्रभावित होकर उसी के स्वर का साथ देता हुआ बंशी बजाता जाता था । धीरे-धीरे वह और तिलोकसिंह, दोनों आगे बढ़ गए और सारे गायक-दल का नेतृत्व करने लगे ।

इतने में सहसा पास ही जैसे कोई पहाड़ फड़फड़ाता हुआ टूटकर गिर पड़ा । रुक्मा चौंक उठी । उसने आखे खोली । बाहर दरवाजे पर बड़े जोरो से 'ठक-ठक-ठक' शब्द हो रहा था ।

"कौन है ?"—हड़बड़ाकर रुक्मा ने पूछा ।

"हम हैं, आगा !" गुरु-गम्भीर गर्जन के साथ बाहर से आवाज़ आई ।

सुनकर रुक्मा धक से रह गई । उसे लगा कि उसकी आत्मा उड़कर न-जाने कहां, पहाडो के भी बहुत ऊपर, पहुंच चुकी है । केवल उसका मृत शरीर सीमेंट पर पड़ा हुआ है, जिसे उठाकर ले जाने के लिए बाहर दरवाज़े पर यमदूत खड़ा है ।

संशोधन

उषादेवी मित्रा

(१)

दिन में झडी और रात्रि में घोर वर्षा जारी थी । इन्ही दोनों के गले में वाहें डाले ससार में अपना वसेरा डाले हुई थी, दिवा और निशा । न उन्हें विजली और वर्षा का दु.ख और चिन्ता रही थी और न शीत की शीतलता का तथा उत्तप्त गर्मी के लू-लपटो का भय। वे शायद इनसे परिचय और सखीत्व भी स्थापित कर चुकी हो, तो विस्मय नही । उनकी वातें वे ही जानें।

रेवती को जव उसके पति रणवीर वहादुर के साथ उस प्रकाण्ड किन्तु अर्द्ध-जलमग्न प्रासाद में प्रवेश करते हुए दिवा और निशा ने देखा, तो उदासीनता-भरी मुस्कान उनके मुख पर व्याप्त हो गई और फिर वायु के झोके में दोनो समा गईं।

उस घर में प्रवेश करती हुई रेवती वार-वार सिहरने लगी। न-जाने क्यो, उसके प्रत्येक लोमकूप में एक अद्‌भुत और विचित्र अशांति जागकर वैठ गई।

प्राणिवर्जित गृह—न तो कोई नववधू का स्वागत करने को आया और न शंख का निनाद हुआ; न वाजे वजे, न खुशी की एक चिनगारी ही दिखाई दी । साईस गाडी पर से सामान उतार कर, सीढियां पार करता हुआ, ऊपर की मंजिल में चढने लगा।

रणवीर वहादुर ने पुकारा —"लछिया, ओ लछिया !"

एक वृद्धा नारी आंगन का दूसरा दरवाजा खोलती हुई पहुंची — "हां मालिक ! आहा, हमारी नई रानी वहू भी आ गई हैं ! परन्तु महाराज ने न कोई तार दिया और न और किसी तरह आने का सन्देश भेजा । राजवहू का आदर-सत्कार कुछ नहीं किया गया । आज कितने दिनों के वाद यह राजमहल गुलजार हो रहा है। रानी वहू शीतला देवी के स्वर्गवास के वाद वर्षों से राजप्रासाद खाली पड़ा था !"

तव अन्धकार धीरे-धीरे वांह वढ़ाकर मानो प्रासाद को निगलता चला जा रहा था।

राजा ने धीरे से कहा—"नौकरों को वुलाओ । सव कहां चले गए ? प्रासाद में उजाला करो ।"

नौकर सव पहुंच गए। उज्ज्वल प्रकाश से महल जगमगा उठा। रणवीर ने लौटकर रेवती को देखा। उसके अनावृत्त मुख को देखकर रणवीर विस्मित हुआ । वांह वढ़ाकर उसने रेवती को समेट लिया। फिर अर्द्धमूर्च्छित पत्नी को उठा कर ऊपर चला गया।

रेवती जव स्नान कर निकली, तव रणवीर ने अपने हाथों से उसे हीरा-मुक्ता के अलंकारों से भूषित कर दिया। सहसा रेवती ने पूछा— "ये ज़ेवर किसके हैं ?"

"ये ? ये आभूषण, इस राजप्रासाद के भग्नावशेष, स्वयं मेरी मां के हैं।"

"क्या आप राजा हैं ? परन्तु मेरी कुटिया में और मेरे पालक पिता के सामने तो आपने यह सव कुछ नहीं वताया था ।" उसके वाद रेवती विस्मय-विस्फारित नेत्रों से उस गृह का वैभव देखने लगी।

रणवीर हंसा—विषादपूर्ण हंसी; वोला—"कभी एक दिन म इस छोटे-से गढ़ का राजा था। लेकिन आज तो सरकार से पेंशन मिलती है, कई हज़ार। वस, उसी से गुजारा होता है।"

लछिया पहुंची—"महाराज, रानी साहिवा को कालिका देवी के मन्दिर में ले चलिए।"

"नहीं, इतनी रात को रानी वहा न जाएगी। इन्हें भोजन कराकर इनके कमरे में सुला दो।"

(२)

रेवती का मन प्रफुल्लित था, अत्यन्त प्रफुल्ल। सोचती—"इतना ऐश्वर्य! और, यह है पूर्व-ऐश्वर्य का भग्नावशेष!" रेवती राजमहल को घूम-घूम कर देख रही थी। नीचे के वृहत् दरबार-गृह का ताला उसने खोला। उसे देखकर वह अवाक् हो गई। चादी का सिंहासन, कौच, कुर्सिया और चादी की मूंठ लगी तलवारें—दीवारो पर चादी के फ्रेम में आबद्ध वृहत्-वृहत् तैलचित्र। चित्रो के नीचे नाम लिखे थे। उन चित्रो को रेवती ने आख गड़ाकर देखा और पहचान कर श्वसुर के चित्र को प्रणाम किया—सास को भी। पति के तैलचित्र को वह मुग्ध होकर देखती रही। मन ने कानो में कहा—"यौवन-अवस्था में कितना सुन्दर था रणधीर!" और, तुरन्त उसने गुनगुनाकर कहा—"अब भी क्या वे असुन्दर हैं?"

फिर एक स्थूल-सी नारी के चित्र के सामने खडी हो, वह सोचने लगी—"यही थी प्रथम राजवधू! एक सीधी-सादी नारी।"

रेवती नीचे के तल्ले से ऊपर चढी, अपने कमरे में पहुची। कमरे की सफाई हो चुकी थी, किन्तु फिर भी सुहागरात की नवोढा वधू का दीर्घश्वास दीवारो पर टकराता हुआ, माथा पीटता फिर रहा था। रेवती ने लज्जा से आचल में मुह ढाक लिया। लज्जा-लज्जा, नारी की पराजय की लज्जा। सुहागरात के एकाकीपन की लज्जा। अरे कहां—विश्व के किस कोने में वह इसे छिपाकर रखे?

रेवती धीरे-धीरे कमरे में टहलने लगी। दीवार पर टगे हुए वृहत् दर्पण पर उसके नेत्र गए। निगाह पड़ते ही वह सिहर कर हट गई। हा, अपनी ही आकृति को देखकर वह सिहरी! क्यो? सो तो वही जाने। रेवती धीरे से बाहर निकली। अत्यन्त सुन्दर फूलो से सजे हुए दालान को पार करती हुई वह चली और अपने बगलवाले कमरे के द्वार पर हठात् रुकी। कमरे के द्वार पर सुन्दर किन्तु पुरातन

परदा लटक रहा था। कौतूहलवश उसने धीरे से वह परदा हटाया और स्थाणुवत् अचल रह गई। फिर कब उसके पैर उठे और कब वह सुप्त पति के पलंग के निकट पहुंची, यह वह स्वय भी नही जान सकी।

दासी की पुकार से उसकी चेतना लौटी। किन्तु यह देखकर रेवती अत्यन्त विस्मित हुई कि दासी की इतनी चीत्कार-पुकार से भी उसके पति की निद्रा भंग नही हुई। रेवती बाहर निकली। एक नूतन दासी जलपान आदि की ट्रे लिए खड़ी थी।

अपने कमरे में पहुंचकर रेवती ने चाय का प्याला उठा लिया; कहा—"कल तो मैंने तुम्हे नही देखा था, सोना।"

"मै इस महल की पुरानी सेविका हूं, रानी साहिबा! पहले की रानी बहू की सेवा मैं ही करती थी। उनके मरने के बाद मै फिर महल मे नही आई। उनकी वैसी मौत को देखकर · ·" वह चुप हो रही।

"कैसी मौत?"—चकित-सी रानी ने पूछा।

"क्या आपने उस तरफ की तालाबन्द कोठरी को नही देखा?··· देखा है? उसी में वे गले मे रस्सी का फन्दा डाल कर मरी थीं। उसके बगलवाले बड़े कमरे मे वे रहती थी। ·· क्या हुआ था? भगवान् जाने। हा, उस सन्ध्या में जब राजा बहादुर काली-कालिका को पूजने गए थे, तब वे भी उनके पीछे-पीछे छिपकर वहां गई थी, इतना ही मैं जानती हूं।" यह कह कर सोना चाय की ट्रे आदि लेकर चली गई।

और, नानाविध समस्याओं के बीच में पड़ी रेवती अपने-आप मे गुम हो गई।

सहसा एक सुमधुर सम्बोधन को सुनकर रेवती चौंकी। पति उसके कन्धे पर हाथ रख कर कह रहा था—"रेवा! तुम यहां बैठी क्या सोच रही हो, रानी?"

पति के उस स्पर्श से रेवती के शरीर मे एक अपूर्व सिहरन जाग उठी, लोमकूपो में विचित्र-सा स्पन्दन होने लगा और तुरन्त ही उस शिक्षिता नारी ने अपने को सम्भाल कर धीमी मुस्कान के साथ कहा—"कुछ नही महाराज! आपने चाय पी ली?"

"मेरी रानी, मुझे 'आप' नहीं, 'तुम' कहो—मुझे अपनत्व में खींच लो। चाय? नहीं, मैं चाय पीता ही नहीं हूं। न रात में भोजन ही करता हूं। चाय के बदले मैं शराब पीता हूं।"

रेवती ने कहा—"कोई बात नहीं। मैं आज सवेरे ही यह समझ गई थी।"

"तुम? लेकिन कैसे?"

"तुम्हारे पास घण्टों खड़ी रही थी न।"

राजा ने आंखें गड़ाकर इस सुन्दरी नववधू की ओर देखा और सोचा— कितनी सुन्दर, कितनी मोहक आकृति है, सामने खड़ी हुई इस नारी की।" और एक हृदयभेदी दीर्घश्वास राजा के हृदय को चीरता हुआ निकला।

रेवता के निकट उस दीर्घश्वास की कथा गुप्त न रही। । वह पति को अपलक नेत्रों से देखने लगी। उस दृष्टि के सामने राजा एक विचित्र परेशानी-सी अनुभव करने लगा। रेवती ने बात को समझा। फिर अधरों पर गुलाल की-सी लालिमा-भरी हंसी बटोर कर, पति का हाथ पकड़ कर, उसने उसे अपने पलंग पर बैठाया। उसके स्पर्श से राजा का बार-बार सिहरना रेवती अनुभव करती रही। रणवीर मुग्ध नेत्रों से रेवती को देखता रहा और किसी एक अज्ञात मुहूर्त में राजा सहसा उस पलग पर से उठकर खडा हो गया, बोला—"स्नान कर चुकी हो न, रेवती? तो चलो, राजवंश की कुलदेवी काली मा के मन्दिर में।" रेवती पति के साथ-साथ चल पड़ी।

(२)

प्रासाद के बगलवाले पुष्प-उद्यान में रेवती राजा के साथ पहुची। पुष्प-उद्यान के मध्य में परिष्कार-विरहित, उजड़ा-सा कालिका का यह वृहत् मन्दिर था। देवी के सामने जाकर वह स्तब्ध हो रही। लगने लगा, जैसे काली के नेत्रद्वय मातृ-हृदय के स्नेह से परिपूर्ण होकर उस पर गड़े हुए हैं। श्रद्धा से रेवती ने उनके विशाल पादमूल में मस्तक अवनत कर दिया और पुष्पांजलि देते समय सहसा काली के चरणों की विशेषता ने रानी को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया। काले पत्थर

के चरणो मे ऊचे घुण्डीदार पत्थर के ढक्कन लगे हुए थे और पत्थर के ये भारी ढक्कन अल्प-अल्प हिल भी रहे थे। भीत रानी पूजारत राजा से लिपट गई। रणवीर ने आखें खोली, उस कम्पित नारी को हृदय में समेट लेना चाहा; किन्तु वैसा न कर सका, पूछा—"क्या हुआ है, रेवा ? डर गई हो ? अरे, काप क्यों रही हो ?"

आर्त स्वर में रेवती ने बताने की कोशिश की—"व ह वह "

तुरन्त राजा उठा और रानी को साथ लिए हुए प्रासाद में चलते-चलते बोला—"वह कुछ भी नही ! देवी की माया है। तुम अकेली मन्दिर में कभी मत आना। मेरे सिवा यहां कोई भी नही आता है।"

रेवती की दिनचर्या थी—नित्य अपनी शून्य-शय्या पर से उठना और प्रासाद के पुन.संस्करण में जुट जाना। रणधीर बहादुर केवल अवाक होकर नूतन रानी का कार्य देखता रहता। अल्प समय में उसने महल को वासोपयोगी बना लिया था—इतना, कि कोई टूटा हुआ अंश शेष न रहा।

उस दिन रानी पति के कमरे को साफ करती हुई एकाएक अकड़-सी गई। एक आल्मारी में चाबी लटक रही थी और कौतूहलवश उसने उसे खोला था। उसके अन्दर रखी हुई वस्तुओं को देखकर वह सिहर उठी और सहम गई। आल्मारी में उसने शराब-भरी बोतलो को देखा, गांजा आदि और उनके चिलमो को देखा और देखा नाना प्रकार की गोली-भरी शीशियो को। उनके नाम पढ़-पढ़ कर वह स्तम्भित रह गई और रणवीर की पदध्वनि सुनकर शीघ्रता से आल्मारी बन्द कर अलग खड़ी हो गई।

राजा ने गृह में प्रवेश किया। अपने घर का आमूल परिवर्तन देख कर वह हँसा—"तो रानी साहिबा, देखते-ही-देखते महल का तो तुमने आमूल परिवर्तन कर डाला है। अब क्या मेरा भी परिवर्तन-संशोधन करना है ?"

रानी मुस्कराई और बोली—"शायद किसी दिन वह भी हो जाए !"

प्रथम रानी की मृत्यु की कहानी रेवती यद्यपि दासी के मुख से सुन चुकी थी, तो भी वह अपनी आंखों से काली-मन्दिर का रहस्य देखना चाहती थी।

उसी रात्रि को जव रणधीर काली-मन्दिर का द्वार रुद्ध कर पूजा कर रहा था, तव रेवती के नेत्रद्वय रुद्ध द्वार की दरार से भीतर देख रहे थे। पूजा शेष कर दो चांदी के दूध-भरे कटोरे राजा ने अपने हाथो काली के दोनो पादमूल में रक्खे। फिर पादमूल के दोनो भारी पत्थर खोल दिए। उन छेदो से फनफनाती हुई दो कालो नागिनें निकली। उन्होंने दूध पिया। एक को राजा ने तरन्त वन्द कर दिया, दूसरी के सामने राजा ने अपना हाथ वढाया। नागिन ने मानो चुम्वन की वूद राजा के हाथ में टपका दी और तव वह छेद में घुस गई। राजा ने रुमाल से रक्त-विन्दु को पोछा, ढक्कन लगाया और नशे में झूमता हुआ महल में पहुचकर अपने पलग पर पड कर सो रहा। शान्त धीरता से रेवती ने सव-कुछ देखा। वही खड़ी रह कर वह न-जाने क्या-क्या सोचती रही। उसके वाद दृढ निश्चय की छाया उसके मुख पर व्याप्त हुई।

(४)

अर्द्धरात्रि की निस्तव्ध सुषुप्ति। रानी ने राजा के कमरे में प्रवेश किया। रणधीर शय्या पर पडा छटपटा रहा था। रेवती खडी रह कर पति की दशा देखने लगी। फिर पलंग पर वैठ गई। पति का मस्तक उसने अपनी गोद में उठा लिया—"क्या हो गया आज तुमको, महाराज?"

"तुमने मेरा भी सस्कार कर डाला न? परन्तु इतनी जल्दी? मुझे इतनी जल्दी की आशा नही थी, यद्यपि मैं देख रहा था कि आलमारी की वोतलें खाली हो रही हैं। अव तो आल्मारी ही खाली है।"

रेवती चुप रही।

"क्या देख रही हो, रेवा?"

"अपने पति को। न सवेरे भोजन, न रात को भोजन। आज से नित्य भोजन करोगे। चलो, उठो।"

एकआज्ञापालकशिशु-सा राजाउठाऔरचादीकीथाली-कटोरियोंमेंनाना प्रकार के भोजनो को देखकर वह विस्मित हुआ—"यह सव किसने वनाया?"

रेवती केवल मुस्करा दी।

× × × ×

भोर की सुहावनी घड़िया विश्व-प्रागण में तव पहुंच नही पाईं थी। राजा रेवती को देखता हुआ वोला—"आज रात जाग कर किस साधना में लगी हुई हो, रेवा? न वोलोगी? परन्तु सुनो तो, एक अपंग पुरुष नारी को सन्तान की भिक्षा कैसे दे सकता है? तुम्हारे वाह्य और अन्तरंग, दोनो रूपो ने मुझे मोह लिया है। कितना भयकर पशु हूं मैं! क्या अव भी नही समझी?"

रानी मुस्करा दी।

राजा ने आंखें गड़ा कर रानी की ओर देखा—"क्या चाहती हो, रानी? सन्तान? राजवंश की रक्षा? तो 'टी ऊ व वे वीं'"

रेवती वीच मे ही गरज उठी——"वस, चुप रहो! एक दिन उस अभागिनी के, मेरी जीजी के, तुम्हारे इन्हीं शव्दो से प्राण गए थे। मैं सव जानती हूं!"

"तुम तुम इतना भी जानती हो, रेवा?"

"क्या चाहती हूं? इसी राजवश की सन्तान! तुम नही, एक दिन मै ही तुम्हें भिक्षा दूगी। तुम अपग हो? तुम्हारी यह मिथ्या कल्पना है। वस, अव सो जाओ।"

"और तुम? क्या यो ही रात-भर जाग कर यहा वैठी रहा करोगी?"

"हां, दिन और रात।"

"कव तक?"

"जव तक राजा वहादुर का पूर्ण संस्कार होकर उन्हें पूर्वावस्था प्राप्त न हो जाए।"

राजा आंखें वन्द कर पड़ा सोचता रहा। किन्तु फिर भी उसकी समझ में वात नही आई कि उन दोनो नागिनो को किसने मार डाला—रेवती ने, या स्वयं काली माता ने?

दृष्टि का मूल्य

कमला चौधरी

नगर के विख्यात वैभवशाली सेठ हीरालाल के नवजात पौत्र का नामकरण-सस्कार था। प्रात बडी धूमधाम मे हवन, ब्रह्मभोज, आदि अनुष्ठान सम्पन्न हुए थे। रात में दावत का आयोजन था, जिसमें मिनिस्टर से लगा कर सभी उच्च श्रेणी के पदाधिकारी और प्रतिष्ठित नागरिक निमन्त्रित थे। इसलिए सेठजी ने सहभोज की व्यवस्था का भार अपने पुत्र कमलकिशोर को सौंपा था।

सध्या के समय विशाल प्रागण में अपने मित्रो के साथ बैठे हुए कमलकिशोर मिठाई-मुरब्बो की तश्तरिया लगवा रहे थे। नौकर-चाकर, इष्ट-मित्र, सभी आनन्दविह्वल होकर काम में सलग्न थे। सारे घर में आनन्द-ही-आनन्द छाया हुआ था। बाहर द्वार पर नौबत बज रही थी। दावत के समय के लिए बैंड तैयार था। घर में सौरी-गृह के सामने गानेवालिया ढोलक-मजीरा बजा कर सोहर गा रही थी।

गानेवालियो के मध्य बैठी ललिता अपनी मधुर स्वर-लहरी से प्रत्येक का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। सोहर के गीत गा चुकने के बाद अब वह कृष्ण के विरह में गोपियो की वेदना के वर्णन के भावमय गीतो से समा बाध रही थी और निर्निमेष दृष्टि से कमलकिशोर की ओर ताकती हुई प्राणपण से अपने सगीत को अत्यधिक चमत्कारी बनाने के निमित्त व्यग्र जान पड़ती थी, मानो उसकी निधि की

प्राप्ति के लिए वह यथाशक्ति अपनी कला को सफलता की चरम सीमा पर पहुंचा देना चाहती हो । हाथो की उंगलियां चपलता से ढोलक पर नृत्य कर रही थी। दृष्टि सब-कुछ भूल कर एक दिशा की ओर लगी हुई थी—हृदय की वेदना कण्ठ-स्वर से फूटी पड़ रही थी । मुख पर पसीने की बूदों के साथ ही अकुलाहट के चिह्न भी अंकित थे । लगातार पूर्ण शक्ति लगा कर गाते रहने के कारण मुह सुर्ख हो गया था । वह लालिमा उसके सौंदर्य में चार चाद लगा रही थी । ऐसा जान पड़ता था, मानो वह सगीत-कला की साधिका आज अपनी साधना का अन्त करके, सफलता का निर्णय करने का संकल्प कर, साधनारत थी।

कमल ने एक वार भी उसकी ओर दृष्टिपात नही किया, वल्कि नेत्रों को संयत कर वे उस ओर देखने से अपने को जवरन रोक रहे थे । किन्तु वार-वार ललिता के स्वर से उनका हृदय स्पन्दन कर उठता था—शरीर में कम्पन आ जाता था।

कमल के रसिक मित्र उनसे भांति-भाति के रसमय वाक्य कह-कह कर विनोद कर रहे थे । ललिता एकटक कमल को ही देखे जा रही है, यह मित्रो की दृष्टि ने भली प्रकार लक्ष्य कर लिया था । और, कमल की उस ओर से ऐसी उपेक्षा, चुप्पी, मित्रों के मन में और भी विनोद उत्पन्न कर रही थी। वे समझ रहे थे—कमल लजा रहा है। अतः वे ललिता के संगीत की प्रशंसा करते हुए कह रहे थे—"कमाल का गला पाया है। आश्चर्य है कि घरो की गानेवालिया भी इतना अच्छा गा सकती हैं। आवाज़ कैसी मीठी और सुरीली है। स्वर में कितना लोच है। खूवसूरत भी गजब की है। रंग-रूप से लगता है, जैसे किसी सभ्य घराने की लड़की हो—नायन, वारिन तो लगती नहीं है। दोस्त, यह तुम्हें ही क्यो घूरे जा रही है। हम लोगों की ओर एक वार भी नही देखती । पलकें भी तो नही झपक रही है ! आखिर मामला क्या है ? तुम इतने शर्मा क्यो रहे हो ? मालूम होता है, इससे परिचय है ।" तभी एक ने कहा—"अच्छा, मजाक छोड़ो । सच वताओ, यह कौन है, तुम कुछ जानते हो ?" मन की चंचलता छिपाते हुए कमल ने गर्दन हिला कर 'नहीं' का सकेत किया।

समीप बैठे घर के एक पुराने नौकर ने मित्रो की शका का समाधान किया—"बाबूजी! यह नायन नही, ब्राह्मणी है। यहा आए अभी पाच-छ महीने हुए होगे। हमारे सेठजी का एक क्वार्टर किराए पर लेकर रहती है। इतने ही दिनो में इसके गाने की धूम हो गई है। हमारी मालकिनजी बडे चाव से इसके भजन सुनती है।"

कमलकिशोर फिर भी मौन ही बैठे रहे, जैसे इस वार्ता में उन्हें कोई रस ही न हो। वे अपने काम में दत्तचित्त रहे। फिर तश्तरिया लगवा कर कहने लगे—"अब चलो, हम लोग तैयार होकर बाहर की व्यवस्था देखें।" और, मित्रो को साथ लेकर वे ऊपर छत पर चले गए।

इधर ललिता ने भी गाना समाप्त कर दिया और थकावट में मुख का पसीना पोछते हुए, अनमनी-सी होकर, सेठानीजी से जाने की आज्ञा मागी।

सेठानीजी ने उसकी सराहना करते हुए कहा—"आज तो तूने कमाल कर दिया, ललिता! मेरा मन बडा प्रसन्न हुआ। तुझ पर तो सरस्वती की कृपा है। थक गई होगी। कुछ देर आराम करके खाना लेने आना। तुझे बढिया-सी साडी दूगी। न्योछावर के पैसे, आदि तो तू लेती नही है।"

जबरन मुस्कराने की चेष्टा करते हुए ललिता बोली—"माताजी, बालक होने की मुझे भी खुशी है, पैसे किस बात के लू।" वाक्य पूरा करते-करते उसका कण्ठ रुकने-सा लगा। आखें छलछला आई। सेठानीजी को प्रणाम कर वह शीघ्रता से आगन में आ गई और एक लालसा-भरी दृष्टि छत की ओर डाल कर, हृदय की व्यथा हृदय में ही सम्भाल, अपने घर चली गई।

धीरे-धीरे सहभोज का समय निकट आ गया। कमलकिशोर सिल्क का एक बढिया सूट पहने, मित्रो के साथ हँसी-मजाक करते हुए भाति-भाति की सामग्रियो से सजाई हुई मेजो का निरीक्षण कर रहे थे। बड़े सेठजी बंगले के फाटक पर खडे अभ्यागतो का स्वागत कर रहे थे। बंगले से बाहर सडक पर मोटरो की कतारें-ही-कतारें लगी हुई थी। बैंड बज रहा था। शान-शौकत देखनेवालो का मन भी आनन्द में पुलकित हो रहा था।

तभी अचानक, सेठजी की कोठी के पीछे, जहां किराएदारो के घर थे, से कोलाहल सुनाई दिया। सहसा सभी का ध्यान उस शोर-गुल की ओर चला गया। तुरन्त ही सेठजी ने कमल से कहा—"देखना, क्या वात है !"

और, वे स्वयं आग्रहपूर्वक मेहमानों का आदर-सत्कार कर सवका ध्यान वटाने में तन्मय हो गए।

कुछ देर में एक नौकर ने वडे अदव से आकर धीरे से सेठजी को खवर दी—"ललिता गानेवाली ने आग लगा ली—वहुत जल गई है। भैयाजी उसे मोटर पर लेकर अस्पताल गए है।"

एक स्त्री जल गई, इस खवर के फैलने से कही आनन्द में फीका-पन न आ जाए, इसलिए सेठजी ने सवको केवल इतनी ही खवर दी कि एक मकान में आग लग गई थी, सो वुझा दी गई। वातावरण पुन. आनन्द से विभोर हो उठा।

सेठजी को अपने मन में कमलकिशोर की इस नादानी पर क्षोभ हुआ कि वह स्वय अस्पताल क्यो चला गया, किसी नौकर के द्वारा उसे भेज देना काफी था। अत. उन्होने अवसर निकाल कर चुपके से कमल को वुला लाने के लिए एक आदमी को मोटर पर दौड़ा दिया और स्वय वड़े उत्साह से, अनुनय-विनय के साथ, सवको खिलाने-पिलाने में लगे रहे।

सहभोज आनन्दपूर्वक समाप्त हो गया, किन्तु कमलकिशोर अस्पताल से लौटकर नही आए। नौकर गए, मुनीमजी गए और कमल के एक परम स्नेही मित्र भी वुलाने गए। सवने आकर सेठजी से यही कहा—"कमल वावू डाक्टरो के साथ आपरेशन-रूम में है।"

निराश होकर मित्र भी खा-पीकर चले गए। परस्पर कुछ काना-फूसी अवश्य हुई। कमल अपने घर के इतने वड़े समारोह की परवाह न कर उस गानेवाली की चिकित्सा में व्यस्त है। ललिता जव गाना गा रही थी, तो एकटक कमल को ही देखे जा रही थी। फिर घर जाकर भीतर से दरवाजा वन्द करके आग लगा ली। यह विचार उनके मन में कुछ रहस्य का आभास करा रहा था—साथ ही, सन्देह का निवारण भी। सम्भव है, कमल का यह आचरण केवल सज्जनतावश ही हो। उसका

यहा और कौन है । कमल के उपस्थित रहने से डाक्टर लोग चिकित्सा में कोई कसर नही रखेंगे । सम्भव है, बेचारी के प्राण वच जाएं । कैसी सुन्दर युवती है !

माता-पिता को जहा सहभोज के समय कमल की अनुपस्थिति बहुत अखरी थी, वहा उसकी दया-भावना पर मन में गर्व भी हो रहा था । सेठानीजी वार-वार कह रही थी—"भगवान् करे, उनके प्राण वच जाए । वडी अच्छी लडकी है । कमल की मेहनत सफल हो जाए ।" नौकर-चाकर और ललिता के अडोसी-पडोसी भी कमल की सराहना कर रहे थे । वडे आदमी के पुत्र में भी इतनी दया-भावना !

कुछ वर्ष पूर्व कमलकिशोर की प्रथम नवविवाहिता पत्नी का देहावसान हो गया था, जो अद्भुत सुन्दरी थी और कुछ ही समय में कमल को जिससे अत्यधिक प्रेम हो गया था ।

पत्नी की मृत्यु के उपरान्त कमल शोक में इस प्रकार डूब गए कि उनकी दशा उन्माद तक पहुच गई । खाना-पीना, पढना-लिखना, सब छोड बैठे । होठो पर मुस्कराहट भूल कर नही आती थी । हृदय की प्रसन्नता गायव हो गई थी । जीवन में कुछ रस नही रह गया था । रात-दिन उदासी में ही व्यतीत होता—तकिए में मुह छिपा कर सिसकिया भरते । कभी चुपके-चुपके आसू टपकाते और कभी शून्य में आखें गडाए निर्जन स्वप्न में गुमसुम बैठे रहते । इष्ट मित्र, परिवारवालो-द्वारा मन वहलाने का उपक्रम शोक के वेग को और भी अधिक वढा देता था ।

वे दैनिक दिनचर्या तक की वात जैसे भूल गए थे । प्रात मा वहुत आग्रह कर स्नानघर में भेजती, तो भीतर से दरवाजा वन्द करके स्नान की चौकी पर वैठे रहते । अनिच्छा से किसी प्रकार हाथ मे जल लेकर मुख पर डालते, तो स्वत ही हृदय की वेदना आखो में उमड पडती और घुटनो पर सिर रख कर वालकों की भाति फूट-फूट कर रो पडते ।

वाहर वहन-भाई द्वार खटखटाकर अनुनय-विनय करके कहते—"जल्दी आओ, भाई ! पिताजी मेज पर वैठे चाय के लिए तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे है ।" तव कही वे शरीर पर पानी डाल कर, उल्टे-सीधे कपडे

पहन कर, बाहर आते और बेमन से चाय का प्याला गले से उतार लेते। प्रत्येक काम इसी प्रकार कठिनाई से कर पाते। कोई ससार की गतिविधि या जन्म-मरण की विवशता प्रकट करके यदि उन्हें समझाने की चेष्टा करता, तो उनका दुःख और भी बढ़ जाता और मन-ही-मन वे उससे रुष्ट हो जाते। ऐसे प्रयत्नों से उन्हें अपने प्रेम का उपहास होता प्रतीत होता था।

कमल की दशा से माता-पिता अत्यन्त चिन्तित थे। कही उन्हें कुछ हो न जाए, इसलिए किसी भी युक्ति से उनका ध्यान बटाना ही चाहिए, इसी विचार से उन्होंने एक उच्च घराने की रूपवती विदुषी कन्या से विवाह की बातचीत प्रारम्भ की। माता ने जिस दिन कन्या का चित्र दिखलाया और कमल को दुनियादारी समझा कर सारे परिवार को उनकी दशा से जो कष्ट मिल रहा था, उसका मार्मिक वर्णन करके पुर्नविवाह कर लेने का प्रस्ताव किया, उसी रात चुपचाप कुछ कपड़े, आदि लेकर वे घर से चल दिए।

कहां जाना है, मन को यह निश्चय करने का बोध ही नही हुआ। दूसरे विवाह की बात सुन कर, परिवार से दूर भाग कर, किसी प्रकार वे अपने को बचा लें और सब लोग समझ लें कि उनका प्रेम कितना अटल है, इसी धारणा के अनुसार विह्वल-से वे स्टेशन पर पहुंच कर टिकट-घर की खिड़की पर खड़े हो गए। तभी कानो में आवाज़ पड़ी—"बाबू, मथुरा का टिकट दे दो।"

यन्त्रचालित की भांति कमल ने भी अनुकरण किया और उन्ही वृद्ध सज्जन के पीछे-पीछे जाकर गाड़ी में बैठ गए।

वृद्ध मथुरा-निवासी एक पण्डा थे—बड़े हंसमुख और दुनिया देखे हुए अनुभवी व्यक्ति थे। बात-की-बात में अपना यजमान पक्का करके मित्रता कर लेने में उन्हें देर नही लगती थी, किन्तु धार्मिक, परोपकारी और सहृदय भी थे। कमलकिशोर की मुखाकृति देख कर वे समझ गए कि उनका सहयात्री अत्यधिक चिन्तित और व्यथित है।

पण्डाजी ने अपनी ही सीट पर स्थान करके उन्हें समीप बिठा लिया और बड़े स्नेह से बातों की झड़ी लगा कर धीरे-धीरे सब मालूमकर लिया।

कुछ देर कमलकिशोर अनिच्छा से प्रश्नो का उत्तर देते रहे, फिर पण्डाजी से कुछ आत्मीयता-सी महसूस होने लगी। बातो में रस आने लगा। सतप्त हृदय को सान्त्वना मिली और उन्होंने अपना हृदय उनके सम्मुख खोल दिया।

कृष्ण की बालक्रीड़ा का रोचक वर्णन करके पण्डाजी ने कमल को कुछ दिन वृन्दावन रहने का परामर्श दिया और अत्यन्त स्नेहपूर्ण ढग से जीवन-मरण की दार्शनिकता समझा कर कहा—"बाबू साहब! मनुष्य को बड़े-से-बड़े दु ख ससार में सहने पडते है, किन्तु वह सासारिक जीव है—ससार को छोड़ कर कहा जाए। जीवन-यापन के लिए दुनियादारी में ही भलाई है। कोई जन्म-भर रो भी तो नही सकता। सुख के उपरान्त दु ख, और दु ख के उपरान्त सुख—यही मानव-जीवन का सघर्ष है। भगवान् की कृपा से शीघ्र ही आपके चित्त को शाति प्राप्त होगी। मनुष्य को हिम्मत नही हारनी चाहिए। सहन-शक्ति से काम करना बड़प्पन है। अब आप आए है, तो मथुरा, वृन्दावन, गोकुल, नन्दगांव, बरसाना आदि सभी स्थान देख कर जाइएगा। दु ख भूलने का सबसे उत्तम उपाय प्राकृतिक सौन्दर्य का अवलोकन और देश-भ्रमण ही है।" बातो-ही-बातो में रात बीत गई। कितने दिनो के बाद कमलकिशोर को वह उषाकाल रमणीक लगा—हृदय में आनन्द का सचार हुआ।

वृन्दावन पहुच कर पण्डाजी ने कहा—"मैं आपसे कुछ दिन मथुरा में ही ठहरने की प्रार्थना करता, किन्तु मैं बद्रीनाथ की यात्रा को जा रहा हू। अनेक जरूरी काम निबटाने है। यहा मेरे एक मित्र का बड़ा-सा घर है। स्थान रमणीक है। मित्र का स्वर्गवास हो चुका है। उनकी एक विधवा लड़की है—वह ऊपर के एक भाग में रहती है। शेष घर यात्रियों के ठहरने के लिए किराए पर उठा देती है। वही आपके रहने की व्यवस्था कर दूगा। यात्रा से पहले उससे मिल लूगा। मित्र उसका भार मुझ पर ही छोड गए है। इसलिए दूसरे-तीसरे महीने उसकी ख़बर ले आता हू।"

इस प्रकार परस्पर वार्तालाप करते हुए, पण्डाजी ने घर के आगन में पहुचकर आवाज दी-"बेटी ललिता! कहा हो?" "दादाजी, मैं

गोकुलेश !" कहती हुई, द्रुतगति से सीढ़ियां पार कर, हँसी से चहकती हुई ललिता हाथ जोड़े पण्डाजी के सम्मुख खडी हो गई।

कमल ने दृष्टि उठा कर देखा। ललिता का रूप-लावण्य बिजली की भाति आंखो में कौंध गया। सहसा मन में प्रश्न उठा—यह विधवा है, या प्रफुल्लता की साक्षात् प्रतिमा? कमल का हृदय प्रसन्नता से भर गया।

एकान्त में पण्डाजी ने ललिता को कमल का केवल इतना परिचय दिया—"बड़े घर के लडके हैं। आजकल शोकग्रस्त हैं। मन बहलाने के लिए कुछ दिन यहा रहेंगे। इनका भोजन तुम स्वयं ही बना दिया करना। घर से बर्तन-भाडे तो लाए नही हैं—जो खर्च पड़े, ले लेना। लड़का भला जान पड़ता है—कुछ कष्ट न होने पाए। मैं तो, बेटी, इस बार लम्बी यात्रा को जा रहा हूं। चारो धाम करके लौटूगा। अच्छी तरह रहना।"

ललिता ने खिलखिलाते हुए सरलता से स्वीकृति दे दी—"जैसी आज्ञा, काकाजी! एक आदमी का भोजन बनाना कौन-सी कठिन बात है। मैं तो अपने सभी यात्रियो की यथाशक्ति सेवा करने को तत्पर रहती हूं। मुझे और काम ही क्या है!"

पण्डाजी दोपहर में भोजन आदि करके चले गए। ललिता बाल-विधवा थी। न अनुराग से उसका परिचय हुआ, न मातृत्व से। परिस्थितिवश, या अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति के कारण, पूर्ण यौवन प्राप्त करके भी वह यौवन के अस्तित्व से बेखबर थी। प्रकृति ने उसके हृदय में एक ऐसी अलौकिक मस्ती दी थी कि वह अपने में ही मगन रह कर हर समय आनन्दविभोर रहती थी। संगीत से उसे बहुत प्रेम था। आठ पहर, कोकिल की भांति, वह अपने सुरीले कण्ठ से मस्त होकर कूकती रहती। सरिता की चचल लहरो की भांति, उसका हृदय भी संगीत-लहरियो के साथ नर्तन करता रहता। स्वत. ही उसे कोई ऐसी दिव्य प्रतिभा प्राप्त थी, जिसने जीवन के अभावो के प्रति उसे इतना लापरवाह बना दिया था, मानो जीवन में उसे कुछ अभाव ही न हो। कितने ही यात्री उसके घर आ-कर ठहरते। वह सबकी सुध लेती, अपनी हसी और गीतों से सबके मन को रिझाती और हँसते-हँसते ही सबको विदा कर देती; मानो

वह मानवी हृदय किसी ऐसी अनुपम वस्तु से बना था, जो माया-मोह, राग-द्वेष, दु ख-शोक से रहित होकर अपने ही भीतर की प्रसन्नता में तल्लीन रहता था। किन्तु कमलकिशोर ऐसे यात्री आए कि जिन्होने ललिता के हृदय की गतिविधि में परिवर्तन कर उसे प्रेम के रस में उन्मत्त कर दिया और उसने हंसते-हंसते अपने को कमल को समर्पित कर दिया।

अनुराग का ऐसा धारा-प्रवाह उद्वेलित हुआ कि ललिता अपना वैधव्य, अपनी वह अज्ञात मस्ती, भूल गई और कमल मृत पत्नी का शोक, घर-द्वार, माता-पिता, सबको भूल गए। ललिता के रूप-गुण और सगीत के आकर्षण ने उन्हें आसक्त करके प्रणय में बाध लिया।

दोनो एक प्रकार के स्वर्गीय सुख में विभोर थे, जो उन्हें जीवन में उपलब्ध नही हुआ था।

कुछ दिन बड़े आनन्द में व्यतीत हुए। अचानक एक दिन कमल ने समाचारपत्र में पढा कि सेठ हीरालाल बहुत बीमार है और अपने पुत्र कमलकिशोर के लिए अत्यन्त विकल हैं—कमल का अभी तक पता नही लग पाया है।

इस समाचार ने कमल को जैसे निद्रा से जगाकर मर्माहत कर दिया। वे शीघ्र लौट आने का वायदा करके चले आए और ललिता का ससार उजड गया।

घर पर कमल ने सारे परिवार को अपने वियोग में आहत पाया। मां उनकी चिन्ता में सूख कर काटा हो गई थी। पिता रोग-शय्या पर उनके लिए छटपटा रहे थे। यह दशा देख कर कमल को अपने किए पर पश्चात्ताप होने लगा और एक अपराधी की भांति उन्होंने अपने को माता की प्रसन्नता के हेतु समर्पित कर दिया।

पिता के आराम होते ही माता ने कमल के विवाह की तैयारी की। कमल इन्कार नही कर सके। हृदय में जैसे मोहन का नाम ही नही रह गया था।

वे चाहते थे कि मा से सब-कुछ कह दें, किन्तु कह नही पाए। वे पत्नी के वियोग में वियोगी बन कर क्रुद्ध होकर चले गए थे कि मा

दूसरे विवाह की बात करके मेरे प्रेम का अनादर करती हैं। उन्होने कितनी ही बार रोकर मा से कहा था —"मां, तुम मुझे क्या समझती हो ? मैं ढोंगी या पाखण्डी नही हूं। मेरा प्रेम सत्य है। मै उसे भूल नही सकता । सम्पूर्ण जीवन उसकी याद में व्यतीत कर दूंगा । मैं वासना का पुतला नही हूं। मेरे प्रेम का उपहास न करो।" फिर, अब वे यह कैसे कहें कि घर से बाहर पैर रखते ही उनका वह प्रेम काफूर की भाति न जाने किधर गायब हो गया था और एक नारी से सम्पर्क स्थापित करके उन्होंने पुन. प्रेम ही नही किया, बल्कि उसके साथ इतने दिन रंग-रलियो म व्यतीत किए। भले ही तुम लोग उनके लिए रोते-कलपते रहे, पर वे तो ऐसे लोक में थे, जहां तुम्हारी सुध भी नही आई।

यदि मां से यह कहें कि मुझे ललिता से प्रेम हो गया है, उसी से विवाह कर दो, तब भी कोई विश्वास नही करेगा। सभी सोचेंगे, जिस प्रकार प्रेम के उन्माद का पहला नशा क्षण-मात्र में उतर गया, यह भी उतर जाएगा। फिर अन्तर्जातीय विधवा-विवाह की आज्ञा माता-पिता कैसे देंगे ? समाज में कितनी बदनामी होगी ! कहां ऊंचे घराने के लड़के कमल, कहां वह अनाथ ललिता ! वह कितनी ही सौंदर्यवती हो, पवित्र हो, किन्तु उस-जैसी परिस्थिति में रहनेवाली स्वच्छन्द विधवा को पवित्र कौन मानेगा ? खानदान पर कलंक का टीका लग जाएगा।

और, यही क्या मालूम कि सचमुच ललिता एक सरल-पवित्र नारी है—उसने प्रथम बार कमल से ही प्रणय-व्यापार किया है। सम्भव है, उसके जीवन में और भी कमल-जैसे यात्री आ चुके हों। वह वेदना के आंसू और विकलता बनावट ही हो—धनाढ्य घर के प्रतिभाशाली-रूपवान युवक को फसाने के लिए युक्ति हो। कमल से उसने विवाह का वायदा करके तो अपने को समर्पित किया नही था।

ऐसी शंकाएं कमल के हृदय में स्थान बनाती गईं और वे कुछ निश्चय नही कर पाए। मुंह लटकाए वे यन्त्रचालित की भांति, विवाह कर आए और धीरे-धीरे ललिता को भूलने लगे। एक पढ़ी-लिखी, आधुनिक संस्कृति की सुन्दरी पत्नी ने उनके मन को वश में कर लिया।

ललिता ने बहुत दिनों तक आशा-भरे हृदय से कमल की प्रतीक्षा की और मन की व्यथा मन में ही समेटे, किसी प्रकार दिन व्यतीत करती रही। किन्तु जब कमल ने उसके पत्रों का उत्तर देना भी बन्द कर दिया, तो वह रो-धोकर ही अपने को शान्त नहीं कर सकी, वेदना और निराशा में उन्मादिनी-सी बन कर घर की व्यवस्था का भार पड़ोसिन वृद्धा पर छोड़ कर तीर्थयात्रा के बहाने चल दी और कमल का ही एक मकान किराए पर लेकर रहने लगी। धीरे-धीरे उसे सब-कुछ मालूम हो गया।

उसका विचार कमल को बदनाम करने या बदला लेने का नहीं था। वह एक बार एकान्त में कमल से भेंट कर इस निष्ठुरता का कारण जानना चाहती थी। क्या सत्य ही ललिता के प्रेम को वे भूल गए, या विवश हैं? सब देख-सुन कर भी जैसे उसके हृदय को विश्वास नहीं होता था कि कमल उसे धोखा दे सकते हैं। एक बार वह किसी प्रकार कमल से साक्षात्कार करने को विकल थी। इसी योजना-वश वह गाने-बजाने के बहाने कमल के घर भी आने लगी थी और कमल के पुत्र उत्पन्न होने की खुशी में नित्य प्रति ही गाना गाने आती थी। आते-जाते कितनी बार कमल मिल भी जाते, लेकिन कभी उन्होंने ललिता की ओर आंख उठा कर देखा भी नहीं, जैसे वे उसकी छाया से भी बचना चाहते हों। अत ललिता की वेदना बढ़ती ही गई और आज वह चरम सीमा को पहुंच गई।

गाना समाप्त कर वह निराशा में डूबी घर पहुंची और भीतर से कोठरी बन्द करके बहुत देर तक वेदना में छटपटाती फफक-फफक कर रोती रही; पर रोने से भी जब हृदय की वेदना शान्त नहीं हुई—अपमान और निराशा की चोट से वह छटपटा उठी—तो उन्मादिनी की भांति उसने अपने ऊपर लालटेन का तेल उलट कर आग लगा ली। न वह चिल्लाई, न चीखी। आस-पासवाले दरवाज़ा तोड़ कर जब भीतर घुसे, तो वह पृथ्वी में मुंह गड़ाए औंधी पड़ी जल रही थी। कम्बल डाल कर आग बुझाई गई। उसी समय कमल वहां पहुंच गए। ललिता आग लगा कर जल गई, यह शब्द सुन कर क्षण-भर को वे स्तब्ध

खड़े रह गए । उन्हें लगा, जैसे दिल की धड़कन बन्द हुई जाती है। फिर, सहसा बड़े वेग से भाग कर उन्होंने ललिता के जले शरीर को उठा लिया और मोटर में उसे लेकर अस्पताल चले गए।

डाक्टरों ने कमल के इशारे पर, जो-कुछ हो सकता था, किया, किन्तु उसका शरीर बुरी तरह जल गया था। उसने दोनों हाथों से अपना मुंह पृथ्वी में छिपा रखा था, इसलिए चेहरे का सौंदर्य नष्ट नहीं हुआ था। किसी नर्स को ललिता के समीप नियुक्त न करके कमल स्वयं ही पलंग के समीप बैठा, अपलक दृष्टि से उसका मुख निहारने लगे। रात्रि के सन्नाटे में दो बजे के लगभग ललिता ने आंखें खोलीं। दोनों की दृष्टि एक हो गई। किन्तु कमल ने आंसू टपका कर आंखें नीची कर ली। ललिता के होंठ हिले। कमल ने चम्मच से मुख मे पानी डाला। पीकर क्षीण स्वर में ललिता ने कहा—"मुझे क्या मालूम था तुम्हारी दृष्टि का मूल्य! तुम कितने निष्ठुर हो!" कमल फूट कर रो पड़े। ललिता ने हाथ उठाने की चेष्टा की, लेकिन कराह उठी। अपने शरीर की पट्टियो पर सरसरी दृष्टि डाल कर बिना विचलित हुए उसने फिर कहा—"धीरज धरो, मेरी ओर देखो।"

कमल ने विह्वल होकर उसका सिर धीरे से अपनी गोद में रख लिया।

ललिता कुछ देर तक आंखें गड़ाए कमल का मुंह देखती रही। कमल न कठिनाई से विकल होकर कहा—"मुझे क्षमा कर दो, ललिता!" रुलाई के आवेग से उनका कण्ठ रुक गया, अधिक कुछ नहीं कह सके। रोते ही रहे। ललिता की भी आंखें भर आईं। हृदयावेग के कारण रुकते हुए कण्ठ से उसने कहा—"मेरा अन्त बड़ा सुन्दर है। भगवान् ने बड़ी कृपा की, जो तुम्हें देखने को आखें बचा दी।" किन्तु कुछ ही क्षण बाद उसकी आंखें सदैव के लिए बन्द हो गईं।

कमल निश्चेष्ट-से, उसके सिर को गोद में लिए बैठे रहे, मानो जागने की प्रतीक्षा कर रहे हों। अचानक जोर से दरवाजा खुला। अस्त-व्यस्त-से पण्डाजी आए और ललिता का मुख देख कर चीख उठे—"बेटी, मुझे देर हो गई, नहीं तो कल मैं तुझे आत्म-हत्या न करने देता।"

फिर अपने को संयत करके बोले—"कमल बाबू, घर जाओ। मेरी बेटी के शव पर उंगली न उठवाना।" वे कमल के घर ललिता की तलाश में गए थे और दुर्घटना का समाचार सुनकर सब-कुछ समझ गए थे। व्यथा और पश्चात्ताप से कमल का हृदय फटा जा रहा था।

खोटी चवन्नी

कुलभूषण

"पैसे देना, जी।"

टैक्सी अपनी मंजिल पर पहुच रही थी और क्लीनर मोहन हाथ बढ़ा कर पिछली सीट पर बैठे तीनो सज्जनो से कह रहा था—"पैसे देना, जी।"

अगले क्षण तीन चवन्निया मोहन की हथेली पर आईं और उसने हाथ खीच लिया। तभी टैक्सी का पहिया सड़क के किसी गढे में धसकर उछला और मोहन ने दरवाज़े को कस कर पकड़ लिया। फिर उसने चवन्नियां उलट-पलट कर देखी, तो एक चवन्नी खोटी नज़र आई।

बाकी दो चवन्नियां उसने अपनी नीली धारीदार गन्दी कमीज़ की जेब में डाली; फिर कहा—"यह चवन्नी किसकी है? बदल देना।"

मगर उसके बढे हुए हाथ की तरफ किसी ने अपना हाथ नहीं बढाया। टैक्सी की पिछली सीट पर बैठे तीनो सज्जनो ने एक क्षण एक-दूसरे के मुखो को निहारा। फिर, जैसे कुछ हुआ ही नही, तीनो खिड़की के बाहर का दृश्य देखने में तन्मय हो गए।

क्लीनर मोहन ने एक बार फिर अपना वाक्य दोहराया। सरकारी दफ्तर में काम करनेवाले अधिकतर बाबू ही इस टैक्सी में बैठते है। सुबह-शाम यह टैक्सी, जो असल में स्टेशन-वैगन है, पटेल नगर और केन्द्रीय सचिवालय के बीच चक्कर लगाती है। इसमें कानन से केवल

सात आदमियों के बैठने की जगह है, मगर बैठते हैं दस-पन्द्रह ग्यारह आदमी। तभी तो बस के रेट पर यह टैक्सी दफ्तर के कर्मचारियों की सेवा करने में समर्थ होती है।

मगर अब भी मोहन की बात का किसी ने जवाब नहीं दिया। एक क्षण तक मोहन ने घूर कर तीनों 'सवारियों' की तरफ देखा। दो पतले-इकहरे बदन के अधेड़ उम्र के आदमी और उनके बीच में एक मोटे सज्जन, जिनके चेहरे पर पसीने की बूंदें उभर आई थीं। जरूर यह खोटी चवन्नी इन्हीं सज्जन की है। मगर बने हुए ऐसे हैं, जैसे खोटी चवन्नी के कभी दर्शन भी न किए हों। अजीब बात है। कोई भी खोटी चवन्नी को अपनी नहीं बताता।

और कम्बख्त हैं भी तो तीनों नई सवारियां। रोज की सवारियां ऐसा नहीं करतीं—कर भी नहीं सकतीं, क्योंकि रोज का धोखा सम्भव नहीं है।

एकाएक धचके के साथ टैक्सी पटेल नगर के दायरे में आकर रुक गई, मगर क्लीनर मोहन ने मुसाफिरों के लिए रास्ता नहीं छोड़ा। जरा आगे बढ़ कर उसने कुछ रूखेपन से कहा—"यह चवन्नी क्या किसी की भी नहीं है?"

तीनों मुसाफिरों ने मोहन की तरफ देखा।

मोटे सज्जन ने सिर हिलाकर कहा—"मेरी तो नहीं है।"

पतला, श्यामवर्ण का मुसाफिर उठ कर दरवाज़े की तरफ बढ़ा। उसके कपड़े गन्दे थे, बाल खिचड़ी हो रहे थे और गालों पर जगह-जगह झाइयां पड़ रही थीं। सफेद कमीज़ की बाहें चढ़ी हुई थीं और मोटे होंठों पर पपड़ी जम रही थी। वह बोला—"रास्ता छोड़ो, चवन्नी हमारी नहीं है।"

क्लीनर ने एक नज़र ड्राइवर [illegible]सिंह की तरफ देखा, जैसे पूछ रहा हो—क्या करें? [illegible]सिंह ने कुछ [illegible] नहीं [illegible] सहज स्वभाव से कहा—"जाने दो बाबू साहब को। [illegible] चवन्नी के लिए झूठ बोलेंगे।"

एक-एक करके सभी मुसाफिर (जो क्लीनर के लिए [illegible] नहीं केवल सवारियां थीं—जिन्हें गिन कर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible])

टैक्सी से उतर गए। क्लीनर मोहन सड़क की धूल मे खडा पैसे वटोरता रहा।

सब जा चुके, तो आखिरी सीट पर वैठे आखिरी सज्जन बाहर आए। पतले, मगर गोरे—इन सज्जन की आखो पर सुनहरी फ्रेम का चश्मा था और हाथ में कपडे का झोला। सफेद कमीज़ और सफेद पतलून होठो पर एक अजीव-सी हैरान करनेवाली मुस्कराहट।

टैक्सी से वाहर आकर ये सज्जन कुछ देर रुके, फिर मोहन की ओर मुड कर वोले—"भाई, विश्वास रखो, मेरी चवन्नी खोटी नही थी।"

क्लीनर मोहन का गोल लाल चेहरा और भी लाल हो गया। वह कुछ कहने जा रहा था, मगर वहुत कोशिश करके उसने अपने पर कावू पाया। त्रिलोकसिंह ड्राइवर तव तक टैक्सी को दूसरे गियर मे कर चुका था। उचक कर मोहन ने दरवाजा खोला और अन्दर जा वैठा। टैक्सी केन्द्रीय सचिवालय की ओर चल दी।

(२)

मदन गोपाल ने चाय का एक घूंट पीकर प्याला मेज पर रख दिया और अपने मोटे पेट पर हाथ फेर कर कहा—"आज एक अजीव वात हुई।"

"क्या ?"—उसकी पत्नी राधा ने मुस्कराकर पूछा। आजकल वह एक अद्भुत संसार में रहती थी। एक तो विवाह हुए कुछ अधिक दिन न हुए थे—इस पर एक नन्हे मेहमान के आने की तैयारिया। रह-रह कर राधा चौंक-चौंक उठती। मदन गोपाल को देखकर उसे वरवस न-जाने क्या होता, कि वस! अव भी प्रश्न पूछते हुए वह एक अजीव-सी इच्छा का अनुभव कर रही थी और वड़ी कठिनाई से उसे दवा रही थी।

मदन गोपाल ने मुस्करा दिया—"क्यो, कहा खो रही हैं मेरी रानी ?"

"हुह, यहीं तो हूं आपके सामने।···आप क्या वात बता रहे थे भला ?"

"······ हां। आज साइकिल नही थी न, सो टैक्सी में दफ्तर से लौटा हूं। मैं पिछली सीट पर वैठा था। दो और आदमी भी मेरे साथ ही

बैठे थे । तीनों ने एक-एक चवन्नी निकाल कर दी । टैक्सीवाले ने लेकर देखा, तो तीन में से एक चवन्नी खोटी थी । उसने पूछा— 'यह खोटी चवन्नी किसकी है ? बदल दो ।' मगर तीनों में से किसी ने हामी नहीं भरी ।"

"अच्छा !" राधा के गोरे मुख पर चिन्ता के बादल छा गए । फिर एकाएक बोली—"तुम्हारी तो नहीं थी ?"

"मेरा ख़याल है, मेरी नहीं थी । और अगर होती भी, तो मैं क्या कर लेता ? चवन्नी के सिवा मेरे पास और कुछ था ही नहीं ।"

"क्यों, सुबह तो एक रुपया ले गए थे···"

"हां, चार आने जाने में लगे । दफ्तर में एक दोस्त आ गया । उसे चाय पिलानी पड़ी । आठ आने उसमें चले गए ।"

"हूं ! यह तो अच्छा नहीं हुआ ।" राधा सोच रही थी—अगर खोटी चवन्नी इनकी थी, तब तो बहुत बुरी बात हुई ।

"अरे छोड़ो भी !" मदन गोपाल ने हवा में बात को परे धकेलते हुए कहा—"कुछ मीठी बातें करो ।"

मगर राधा का चेहरा चिन्तित ही रहा । खोटी चवन्नी देकर इन्होंने पाप किया है और पाप का फल सदा [illegible] । आशंका से उसका दिल कांप उठा ।

इसी समय उठ कर उसने ट्रंक खोला । उसमें से एक पोटली निकाली । पोटली में से पैसे निकाल कर वह मदन गोपाल के पास आई, बोली—"ये लो चार आने । अभी दे आओ जा कर । [illegible] है । कहीं कुछ हो न जाए ।"

मदन गोपाल को बरबस हंसी आ गई । [illegible] तो वह लट्टू है । देखो तो, कितनी चिन्तित हो रही है—और कितनी प्यारी लगती है अपनी इस चिन्ता में । फिर [illegible] जोर से हंसा और हंसता चला गया ।

"अरे ने," आखिर हंसी रोक कर वह बोला— [illegible] कह दिया कि खोटी चवन्नी मेरी ही थी ?"

"हो सकता है, तुम्हारी ही हो । जाओ, जाकर दे आओ।"

"अच्छा बाबा, दे आऊंगा।" अब मदन गोपाल को क्रोध आ रहा था—भला यह भी कोई बात है!

"दे क्यों नही आते अभी?"

"इस समय टैक्सीवाले को मैं कहा ढूढूगा? सुबह आठ बजे उसकी टैक्सी दायरे के पास आकर खडी होती है, तभी दे आऊगा।"

(३)

नवीन ने अपनी सुनहरी फ्रेम को ठीक करते हुए कहा—"सचाई वह है, जो तुम्हारा दिल जानता है।"

"नही," राकेश ने कहा—"सचाई वह है, जो दुनिया जानती है। देखो न, तुमने चोरी नही की, मगर चोरी का माल तुम्हारे घर बरामद हुआ। लोग तुम्हें चोर समझेंगे या किसी और को?"

"समझा करें," नवीन ने झल्ला कर कहा—"मगर मैं तो जानता हू कि चोरी मैंने नही की।"

"तुम लेखक हो न। तभी ऐसी बहकी-बहकी बातें करते हो।"—मनमोहन ने कहा।

तीनो मित्र सिगरेट के धुए से भरे कमरे मे बैठे बहस कर रहे थे और रह-रह कर नवीन को टैक्सी के क्लीनर का चेहरा दिखाई दे रहा था। किस उद्दण्डता म उसन नवीन की तरफ देखा था। शायद वह समझता था, खोटी चवन्नी उसी की है। मगर नवीन जानता था, उसकी चवन्नी बिल्कुल ठीक थी। देने से पहले उसने चवन्नी को उलट-पलट कर अच्छी तरह देखा जो था।

"दोस्तोवस्की के उपन्यास 'अपराध और दण्ड' के नायक रास्कोल-निकाफ को मालूम था कि जुर्म उसने किया है।"—नवीन ने कहना आरम्भ किया—"किसी को उसक अपराध का पता न था, फिर भी उसकी आत्मा ने स्वीकार नही किया कि वह निरपराध है। इसलिए वह जुर्म के स्थान पर वापस गया, यह जानते हुए भी कि वह पकडा जाएगा। और, दण्ड पाकर उसकी अपराधी आत्मा को जैसे एक असह्य बोझ से मुक्ति मिल गई।"

"किस सदी की बातें कर रहे हो तुम ?"—मनमोहन ने कहा—"आज के ज़माने में सफल चोर आदर पाते हैं और उनकी आत्मा की आवाज़ शहर के कोलाहल में सुनाई ही नहीं देती।"

"अच्छा, तो आज की बात सुनो।"—नवीन ने कहा—"और फिर फ़ैसला करो कि अपराधी मैं था या कोई और।"

"सुनाओ।"—राकेश ने कश खींच कर धुआं छोड़ दिया।

नवीन ने चवन्नी वाली बात विस्तार-सहित कह सुनाई, फिर कहा—"क्लीनर ने जिस नज़र से मेरी तरफ़ देखा, उसका मतलब साफ़ था। मैं खोटी चवन्नी को अपनी बता कर दूसरी चवन्नी दे सकता था। मगर मैं जानता था, मैं निर्दोष हूं। फिर मैं ऐसा क्यों करता!"

"मगर टैक्सी में बैठे दूसरे लोग भी तुम्हें निर्दोष समझते थे ?"—राकेश ने पूछा।

"यह मैं नहीं कह सकता। शायद वे भी क्लीनर की तरह मुझे ही दोषी समझते हों।"

"और तुम्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं है। तुम्हारी आत्मा जो साफ़ है।"

"जी हां, आत्मा साफ़ है।"—मनमोहन ने छींटा कसा—"तभी जनाब को रह-रह कर खयाल आ रहा है कि दोषी कौन था।"

नवीन ने चश्मा उतार कर उंगलियों से आंखों की कोरों को दबाया, फिर कहा—"सच बताऊं ? मैंने यह बहस केवल इसलिए शुरू की, ताकि अपने-आपको विश्वास दिला सकूं कि मैं सही रास्ते पर हूं। पर मालूम होता है, मुझे इसका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा; वरना जब भी मेरी भेंट उस क्लीनर से होगी, मैं उससे नज़रें न मिला सकूंगा।"

"तुम निर्दोष हो, फिर यह झेंप क्यों ?"—राकेश ने कुरेदा।

"इसलिए कि जो दोषी था, उसे झेंप नहीं आई।"—नवीन ने चश्मा लगाते हुए कहा—"ख़ैर, छोड़ो इन बातों को। आओ ताश की एक बाज़ी हो जाए।"

(४)

होठो की पपड़ी पर ज़बान फेरते हुए चन्द्रकान्त ने अपने पांच वर्ष के बेटे से कहा—"जा मुन्ना, मां से बोल, खाना लाए।"

"अच्छा बाबा।" कहकर बच्चा घर के अन्दर चला गया।

चन्द्रकान्त बरामदे में चारपाई पर बैठा था। उसके पांव बराबर हिल रहे थे। कुहनियो पर उंगलियां कसे वह एकाएक मुस्करा उठा। उसे टैक्सी के क्लीनर का चेहरा याद आ गया था। आसमान की ओर देखकर उसने जबान से ज़ोर का एक शब्द किया और फिर चारपाई पर लेट गया। दिन का प्रकाश लगभग ओझल हो चुका था। आसमान पर तारो की चमक बड़ी सुहावनी लग रही थी।

ओह! एक और दिन चला गया। वह मोटरवाला काम अगर बन जाए, तो पौ-बारह है, वरना आज का सारा दिन बेकार ही जाएगा। चांदनी चौक में एक भी तो सौदा नही मिला। ग्राहक अगर दस साइकिलें उठा लेता, तो भी बात थी। या, मसूद के यहां सौ गुर्स पेचों की खपत हो जाती। मगर न-जाने क्यो, दूसरे सब दलाल पहले पहुंच जाते हैं। चन्द्रकान्त तब पहुंचता है, जब सारा सौदा निबट चुका होता है।

वह उठकर बैठ गया। बच्चे ने थाली लाकर चारपाई पर रख दी। "पानी ला—जा।" कहकर चन्द्रकान्त ने बच्चे को फिर भगा दिया।

चावलो में दाल डाल कर उसने खाना आरम्भ किया। मेहता साहब गाड़ी जरूर ले लेगा। बड़ा आदमी लगता है।

और हां, एक काम तो आज अच्छा हो गया। खोटी चवन्नी इस खूबी से चलाई कि साला क्या याद करेगा। पता भी नही चला कि किसने दी है। वैसे अगर बस मे आता, तो साढ़े-चार आने लगते—और चवन्नी चलती या नही, इसका भी कोई पक्का नही था। यहां दो पैसो की बचत हुई और खोटी चवन्नी भी चल गई।

खाना खाकर उसने अपनी पत्नी से, जो गले में दुपट्टा डाले चूल्हा-चौका सम्भाल रही थी, कहा—"मैं बाहर जाता हूं। ज़रा घूम आएगा।" और फिर, अंधेरी-उजली सड़को पर वह देर तक घूमता रहा। फिर

लौट कर सोया, तो नींद ऐसी गहरी आई कि पता भी नहीं चला और सवेरा हो गया।

वैसे रोज सुवह वह घूमने नहीं जाता। मगर आज हवा की ताजगी और मीठी नींद के आराम से चन्द्रकान्त का दिल बहुत प्रसन्न था।

नाश्ता करके वह बाहर निकल पड़ा। अनायास ही उसके पाँव गोल दायरे की ओर उठ गए। एकाएक उसने देखा—सामने टैक्सी खड़ी है और उसके बाहर सिख ड्राइवर दो आदमियों से बहस कर रहा है।

उत्सुकता उसे आगे खींच ले गई। अरे! ये दो आदमी तो उसके कल वाले साथी हैं!

सर्दी जा चुकी थी, मगर गर्मी का आगमन अभी नहीं हुआ था। सो धूप अच्छी नहीं, तो बुरी भी नहीं लगती थी। तभी खुली धूप में सुवह के साढ़े-सात बजे चार आदमी बातों में लगे हुए थे।

"आप दोनों साहब कोई फिक्र न करें।"—सिख ड्राइवर त्रिलोक-सिंह कह रहा था—"चवन्नी आपमें से किसी की नहीं थी। जिसकी थी, उसके पास चली गई।"

चन्द्रकान्त आकर नवीन के पीछे खड़ा हो गया। नवीन ने [illegible] कर उसकी ओर देखा, फिर त्रिलोकसिंह की ओर मुड़ कर कहा—"मगर भाई, मैं कह रहा हूँ, वह मेरी थी। तुमने उसे फेंक दिया तो ठीक [illegible]। मगर अपनी चवन्नी तो ले लो।"

"नहीं, भाई"—मदन गोपाल ने कहा—"खोटी चवन्नी मेरी [illegible]। ये तो ऐसे ही दोष अपने ऊपर ले रहे हैं। [illegible] अपनी [illegible] हमें जाने दो।"

चन्द्रकान्त की समझ में कुछ भी नहीं [illegible]—[illegible] है? ये दोनों आदमी आखिर चवन्नी देने के लिए [illegible] [illegible] इसी उधेड़-बुन में खड़ा चन्द्रकान्त [illegible] [illegible]।

त्रिलोकसिंह ने कहा—"लीजिए, ये [illegible] [illegible] गए। ये भी शायद यही कहने आए हैं कि खोटी [illegible] [illegible]।

चन्द्रकान्त [illegible] गया। [illegible] [illegible]

अपने-आप पर काबू पाया। फिर अनायास वह बोला—"हा, खोटा चवन्नी हमारा था!"

त्रिलोकसिंह ठठाकर हँस पड़ा; दाढी के बालो को खोसते हुए बोला—"तो मैं भी कह दू, मेरे पास तीन खोटी चवन्नियां नही आई। केवल एक आई थी, जो अब मेरे पास नही है—किसी नाली में पड़ी अपना मुह काला कर रही है। अब आप जाइए—जो हो गया, सो हो गया।"

नवीन क्रोध मे आ गया; बोला—"वाह, यह कैसे हो सकता है! कसूर किसी का और सजा आप भुगते। आपको नुक्सान क्यो हो?"

"तो आप लोग आपस में फैसला कर लें। जिसकी खोटी चवन्नी थी, वह चार आने मुझे दे दे। बस, झगडा खत्म।" त्रिलोकसिंह ने फैसला देते हुए कहा।

अब नवीन और मदन गोपाल बहस मे लग गए। जब दस मिनट लगातार बहस होती रही, तो चन्द्रकान्त भी संग्राम में कूद पड़ा, बोला—"आप लोग लड़ता क्यो है? मैं समझता है।" नवीन और मदन गोपाल ने चन्द्रकान्त की ओर देखा। चन्द्रकान्त ने कहा—"ऐसा करो, हम तीनो का चवन्नी है—तीनो का खोटा है। पर ड्राइवर का एक चवन्नी गया। सो, हम तीन इसको एक चवन्नी दें।"

"वाह, क्या बात कही है बाबू ने।" त्रिलोकसिंह ने दाद देकर कहा—"बिल्कुल ठीक।"

"अच्छा, तो ऐसा ही सही।"—नवीन ने कहा—"यह लो दुअन्नी।"

"दो-आनी नहीं; पाच पैसा। तुम भी पांच पैसा निकालो।"

मदनमोहन के पास छः पैसे थे। अभी सब्जी लेकर लौटा था। बोला—"यह लीजिए छ पैसे, वरना एक पैसा कम होगा।"

"कोई बात नही।" त्रिलोकसिंह ने कहा—"जहां चार आने की चोट सहता था, वहा एक पैसा क्या है?"

"नही" चन्द्रकान्त ने कहा—"तुम पाच पैसा देगा। छः पैसा मैं दूगा।"

"वह क्यो?"—नवीन ने पूछा।

"बस, हमारा फैसला है।"–चन्द्रकान्त ने कहा।

"यह नहीं होगा"।—मदन गोपाल ने कहा–"छ पैसे मैं दूंगा।"

"अब आप लोग झगड़ा खत्म भी करेंगे, या चलते ही जाएंगे ?"
–त्रिलोकसिंह ने सवाल किया।

चन्द्रकान्त ने कहा—"छ पैसा मैं देगा। मैं देगा, बस!"

इतनी ज़ोर से चन्द्रकान्त ने अपनी बात कही थी कि नवीन और मदन गोपाल चुप हो गए। तीन पैसे नवीन को वापस देकर चन्द्रकान्त ने एक चवन्नी जेब से निकाली। इससे वह घर लौटने से पहले हलवाई की दुकान पर पूरी का मज़ा लेता। मगर अब केवल अढाई आने रह गए थे।

पर चन्द्रकान्त को इस तरह छ पैसे दे देना ज़रा भी बुरा प्रतीत नहीं हुआ। त्रिलोकसिंह को चवन्नी देकर जब वह चला, तो न-जाने क्यों, वह बहुत खुश था–जैसे उस पर से कोई बोझ उतर गया हो।

स्पर्धा

गोविन्दवल्लभ पन्त

इस पार रहते थे चतुरा और चन्नन—दोनो एक ही मुहल्ले के निवासी, बचपन के साथी-मित्र। खेल-कूद में दोनो की बड़ी प्रीति थी। स्कूल बिना कुछ पढे-लिखे ही छोड दिया। दिन-भर इधर-उधर कर ही वक्त बिता देते थे। दोनों के सिर पर माता-पिता मौजूद थे, सो भोजन, वस्त्र और निवास की कोई चिन्ता थी नही उन्हे।

कभी वे गुल्ली-डंडा खेलते और दौड़ लगाते, कभी कबड्डी खेलते और पतग उडाते। अखाडे में वे कुश्ती लडते, डड-बैठक लगाते, भग घोटते, तेल की मालिश करते और नहा-धो, धुले कपड़े पहन जब छाती बाहर निकाल, माथा ऊंचा कर, बाज़ार मे निकलते, तो सब लोग उनके स्वास्थ्य की प्रशंसा करते।

उन दोनो के पिता दो सेठो की कोठियो मे प्रधान दरबान थे। जब अपने लडको को वे देखते, तो आपस में बातचीत करते—"क्या करना है पढा कर हमें। तन्दुरुस्ती उस विद्या से हजार-गुना अच्छी है, जो समय से पहले नौजवानों की रीढ़ तोड़ कर उनकी आखों पर चश्मा रख देती है।"

बीच में थी घोरा नदी। गर्मियो मे बिल्कुल दुबली-पतली—छोटे-छोटे बच्चे भी जिस पर पैर रख कर पार हो जाते थे। लेकिन बरसात मे जब धीरे-धीरे घोरा नदी का विस्तार बढ जाता, तब दोनो तटो पर की काफी भूमि गर्भस्थ कर वह ऊपर चढ जाती—बड़ी-बडी दीवालो

को ध्वस्त कर देती, पेडो को जड से उखाड कर अपने साथ बहा ले जाती और ऊंचे-ऊंचे मकानो को अपनी लहरो के वेग से कम्पायमान कर देती।

घोरा के इस पार थी नगर की नई आबादी और उस पार था प्राचीन शहर। नए और पुराने का अटूट सम्बन्ध था। घोरा नदी जब दुबली-पतली रेखा-सी बहती, तब वह सम्बन्ध हजारो मार्गो से होता रहता, पर जब वह अगाध सलिला हो जाती तो उसके आर-पार के तीन पक्के पुल ही नए और पुराने की एकमात्र कडियां हो जाते।

उन तीनो पुलो के नीचे से नई वर्षा के दम्भ से मदमाता बना हुआ अथाह जल और उसका वेग मनुष्य के बल को चुनौती देता। वह मनुष्य के सहज प्रवेश का अवरोध कर उसकी हँसी उडाता।

घोरा के इस पार रहते थे चतुर और चन्दन और उस पार रहती थी गुलाबी। गुलाबी का पिता नदी के किनारे पर स्थित मुरलीमनोहर के मन्दिर का आंगन धोता और चारो तरफ की फूलो की क्यारियो को सींचता था। गुलाबी मन्दिर की सीढियो से उतर कर नाहे जहां चली जाती, पर वर्षा-ऋतु में जब घोरा का पानी एक-एक सीढी चढ कर मन्दिर के आंगन तक चला आता, तो वह मन्दिर की बन्दिनी हो जाती और उसका दम घुटने लगता।

चतुर और चन्दन हर वर्षा-ऋतु में घोरा की चुनौती की उपेक्षा करने के लिए उसमें कूद पडने कमर बांध रहे। वे उसमें तैरते-तैरते मुरलीमनोहर के मन्दिर की दीवार पर चढ जाते और गुलाबी अपनी नवीन वय की सन्धि पर खडी हुई दबी [illegible] मुस्कान से उन दोनो के साहस की अभ्यर्थना करती।

हां, गुलाबी ने ही उन दोनो मित्रो के बीच में एक [illegible] [illegible] दी। एक दिन चतुर बोला—"चन्दन गुलाबी ने मेरे तैरने की [illegible] प्रशंसा की है।" चन्दन ने मुट्ठी बांध कर [illegible] किया—"[illegible] मेरे कौशल को सराहा है।"

और, उन दोनो के बीच [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] फूट का कोई [illegible] नहीं [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

पास आकर ही इस बात का फैसला कराना चाहा । इस बार वे थल की राह से बहुत घूम कर, रेल के पुल से, मुरलीमनोहर के मन्दिर में गए। उन्होंने पूजा का बहाना बनाया और धीरे-धीरे गुलाबी से अपने मर्म की कथा कह डाली।

गुलाबी जरा हँस कर बोली—"हा, मैंने किसी के तैरने की प्रशंसा तो जरूर की है।"

"तुमने मेरी प्रशसा की है ! "—चन्नन बोला।

गुलाबी बोली—"हो सकता है।"

चतुरा रुष्ट होकर कहने लगा—"नही, तुमने मेरी ओर देख कर कहा था।"

गुलाबी बोली, गालो पर हाथ रख कर—"मुझे तो कुछ भी याद नही है। लेकिन मेरी तारीफ को लेकर तुम्हें क्या करना है?"

चतुरा ने जवाब दिया—"वाह, करना कैसे नही है ! उससे मेरा उत्साह बढता है!"

गलाबी को कुछ याद आई, वह बोली—"क्या हानि है ? तब एक बात हो सकती है। तुम दोनो काठ के पुल पर से एक साथ नदी में कूदो— जब मैं यहा से अपना दुपट्टा हिला कर इशारा करूं।"

दोनों बड़े जोश में भर कर बोले—"स्वीकार है।"

"और, जो सबसे पहले तैर कर मुझे छू लेगा, वही तुम दोनो मे श्रेष्ठ होगा। फिर क्यो कोई संशय रह जाए ? है न ठीक ?"

"हां, स्वीकार है।" —दोनो बोल उठे।

चन्नन ने मोह में पडकर कहा—"लेकिन इसके बदले में पहले आनेवाले को मिलेगा क्या ?"

"मै श्रेष्ठ कह कर उसकी प्रशंसा करूंगी, कह तो रही हूं।"

"कोरी प्रशंसा से क्या होगा ?"—चन्नन ने कहा—"प्राणो की बाजी लगानी पडेगी हमें।"

चतुरा ने बडे विस्मय से चन्नन की ओर देखा। चन्नन कहने लगा— "क्या होगा चतुरा ? कोरी प्रशंसा से क्या होगा ?"

"नही पिताजी, मैं ज़रा भी डरपोक नहीं हूं। धरती पर क्या पानी के भीतर भी मैं अपना साहस दिखा सकता हूं। मेरी बराबरी कोई नहीं कर सकता। आपको ज़रा भी इस मामले की चिन्ता नहीं करनी चाहिए।"—चन्नन ने कहा—"पिताजी, घोरा नदी के भीतर की उस दौड़ में पहला निकलनेवाला एक ही दिन में सारे शहर में प्रसिद्ध हो जाएगा।"

"और अगर तुम पीछे रह गए, तो?"

"ऐसा सोचना ही क्यो चाहिए आपको? नही आया, तो भी क्या हानि है? दौड में एक ही तो पहला आता है।"

"लेकिन वह बहू जो हाथ से चली जाएगी!"

चन्नन ने अपने पिता के सामने फिर किसी अभिमान की बात नहीं कही। वह अपने बाहुबल का भरोसा रखता हुआ चला गया।

दूसरे दिन शहर और मुहल्ले के बहुत-से क्वारे नवयुवक सुबह से ही आकर पुल पर जमा हो गए। उन्होंने उस पार गुलाबी के पास सन्देश भेजा—"हम लोग यहां पानी की दौड़ के लिए तैयार हैं और तुम्हारे सकेत की प्रतीक्षा में हैं।"

गुलाबी ने मन्दिर की दीवार पर चढ कर, दूर पुल की ओर नज़र की। प्राय एक फर्लांग की दूरी पर होगा वह। लगभग दो दर्जन नवयुवक नग-धड़ग, एक-एक लगोट पहने, पुल की परिधि पर खड़े थे और उनके पीछे क्षण-क्षण बढते हुए हजारो दर्शको का समूह था।

एक तरफ एक दर्शक बोला—"क्या होगा यहां?"

दूसरे ने जवाब दिया—"तैराकी का दगल। कौन [illegible] है न जाने?"

एक तीसरे ने उनके भोलेपन पर अपनी चतुराई की [illegible] दी—"गाव से आए जान पडते हो। राज्यपाल के कप की दौड़ है।"

दूसरी तरफ एक व्यक्ति कह रहा था—"लेकिन इनमें से कुछ तो यो ही शौकिया चले आए है। कोई हिम्मत नहीं जान पड़ती इनमें। शीघ्र ही, बिना पानी मे कूदे कोई बहाना कर लौट जाएगे।"

दूसरे ने कहा—"[illegible] तैरने की कला में होशियार हैं [illegible] सौ-पचास गज तक गनीमत है—पानी की दौड़ [illegible] था। इससे ज्यादा दम साथ नहीं दे सकता [illegible]—[illegible] है।"

"मन्दिर के माली की लौंडिया—गुलावी ! उसी के लिए हो रही है यह दौड।"

"दौड़ क्या, स्वयंवर रचा जा रहा है।"

"वड़ा उस्ताद है उसका वाप ! वैसे तो कोई तैयार नही हुआ इस लडकी को ले जाने के लिए। लेकिन भाई, वाह ! यह नुस्खा वड़ा वढिया रहा !"

"चन्नन मार ले जाएगा वाजी। वह तो तीर-सा चला जाता है पानी म।" —एक ने कहा।

दूसरे ने जवाव दिया—"चतुरा भी कुछ कम नही है।"

"चन्नन के सामने कौन ठहर सकता है ?"—पहले ने फिर अपनी वात पर जोर दिया।

दूसरे ने हाथ वढाकर कहा—"वाजी रखते हो ?"

"दस-दस रुपया !"

"मजूर है।"

"दिखाओ भी तो रुपए।"—पहले ने अपनी जेव से एक नोट निकाल कर कहा।

"रुपए दिखाकर क्या होता है ? वात का धन क्या छोटा है ? मै क्या कोई लुच्चा-लफगा हू ?"

इतने मे ही दर्शको की भीड में एक उतावली फैल गई और तैराको के वीच में एक तत्परता। वे सव-के-सव पुल की मेढ पर से पानी मे कूदने के लिए तैयार हो गए। उन सवकी आंखे दूर, मन्दिर की दीवार पर खड़ी, गुलावी पर गड़ी हुई थी।

उसी समय गुलावी ने अपनी साडी का छोर अपने हाथ से उठाकर नीचे कर दिया। सव-के-सव प्रतिस्पर्धी कूद पड़े पानी में एक ही साथ।

कूदते ही चन्नन सवके आगे हो गया। एक ही मिनट में वह सवसे आगे के तैराक से भी कोई तीस गज़ आगे हो गया। वह आगे का तैराक था, चतुरा।

चतुरा की प्रगति देख चन्नन ने नाक पकड कर डुवकी ली और पानी के नीचे छिप गया। प्रतियोगियो को भ्रम मे डाल देने के

चतुरा को एक स्थान पर घोरा के जल में बुलबुले उठते दिखाई दिए। चतुरा ने वहां पर तुरन्त ही नाक पकड़कर डुबकी लगाई।

पानी के भीतर उसने चन्नन को एक काठ के खम्भे में फंसा हुआ पाया। उसमें जड़े एक तार के कांटे में चन्नन के लंगोट का एक डोरा अटक गया था। डोरा बहुत मजबूत था और खम्भा धरती में गड़ा हुआ। चन्नन बड़ी देर से अपनी मुक्ति के लिए छटपटा रहा था।

चतुरा को निकट पाकर चन्नन उत्साह से भर गया। उसकी मदद से वह तुरन्त ही उस काटे से निकल गया। दोनों क्षण-भर में पानी की सतह पर आ गए।

चन्नन बोला—"चतुरा, अगर तुम जरा भी देर में आते, तो दम घुट कर मेरी मृत्यु हो गई होती। विजय का पुरस्कार छोड़कर भी तुम चले आए!"

"भगवान्, तुम्हे बचाना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने मुझे ऐसी मति दी।"

"नही करते तुम गुलाबी से प्रेम?"

"नारी का प्रेम फिर-फिर मिल सकता है, लेकिन एक मित्र का प्रेम? मित्र को इस तरह मृत्यु के चक्कर से बचा लेने का आनन्द? दोस्त, यह कितनी बड़ी चीज़ है! मैंने इसे प्राप्त किया!"—चतुरा ने चन्नन का हाथ पकड़कर कहा।

"लेकिन—" चन्नन ने सहसा मन्दिर के आंगन की तरफ़ देखा।

वे दोनों मन्दिर के करीब पहुंच गए थे। दोनो ने भीड़ को पुकारते हुए सुना—"महीपाल की जय!"

दोनों ने एक-दूसरे को देखा। एक-दूसरे की बात समझ गए। दोनों धीरे-धीरे मन्दिर के आंगन मे पहुंच गए। गुलाबी ने महीपाल का हाथ छुड़ाकर चतुरा का हाथ पकड़ लिया।

"न्यायतः दौड़ में पहला चन्नन है।"— चतुरा ने हाथ पकड़कर चन्नन को खींच लिया।

"नहीं गुलाबी, इस दौड़ में तुम्हारे बदले मुझे पुनर्जन्म मिल गया और यह मित्र—यह सबसे बड़ा पुरस्कार है।"

महीपाल ने फिर गुलाबी का हाथ पकड लिया—"मार्ग की बाधाए मैंने नही बनाई। दौड में मै ही पहला आया हू।"

चतुरा और चन्नन, दोनो ने भीड़ से बाहर निकलते हुए पुकारा—"महीपाल की जय!"

धरती और आसमान

चतुरसेन शास्त्री

पूरनमासी का पूरा चांद आसमान पर अपना उज्ज्वल आलोक फैला रहा था और धरती जैसे दूध में नहा रही थी। दिन-भर लू के थपेड़ों ने आग बरसाई थी और इस समय ठण्डी हवा बह रही थी। स्निग्ध चांदनी थी, शान्त वातावरण—दूर एकाध पक्षी मन्द ध्वनि कर रहे थे।

पति ने आज दिन-भर कड़ा परिश्रम किया था। कई अधूरे स्केचों में रंग भरा था। एक मूर्ति को खत्म किया था। कुछ नई रेखाएं चित्रित की थीं। इस समय वह छत के खुले सहन में आरामदेह पलंग पर पड़ा सुदूर नक्षत्रों को, जिनकी आभा उज्ज्वल चन्द्रालोक से फीकी पड़ रही थी, ध्यानमग्न देख रहा था। वह शिल्पी था, कलाकार था, भावुक था, मनीषी था। जीवन के पचास साल उसने कला की साधना में गलाए थे। आज वह लोकद्रष्टा था, दिव्यद्रष्टा था, विश्वद्रष्टा था। उसकी गहन कल्पनाएं ब्रह्माण्ड के उस पार तक जाती-आती थीं। उसकी तूलिका शत-सहस्र जनों को जीवन का सन्देश देती थी। उसके अपने ही व्यक्तित्व में अखिल ब्रह्माण्ड समाया हुआ था। विश्व का सुख-दुःख आज उसका अपना सुख-दुःख था। वह अपने लिए बहिर्मुख था, विश्व के लिए अन्तर्मुख। वह अपने को नहीं देख पाता था, विश्व पर उसकी दृष्टि केन्द्रित थी।

और, इस समय शान्त-स्निग्ध चन्द्रमा के उज्ज्वल-धवल आलोक में अबाधित रूप से वह उन करोड़ों मील दूर अवस्थित टिमटिमाते नक्षत्रों के निकट जा पहुंचा था। वह सोच रहा था—उन नक्षत्रों में क्या सचमुच उसी प्रकार प्राणियों का वास है, जिस प्रकार हमारी पृथ्वी पर? वहां का भी वातावरण क्या लोगों के हँसने-रोने और व्यस्त नागरिक-कोलाहल से परिपूर्ण है? वहां भी क्या बच्चों की पौद उगती है? वहां भी क्या ऐसा ही है, जैसा कि यहां—कुछ बच्चे गुलाब के फूल के समान सुन्दर-सुहावने-उत्फुल्ल और कुछ सूखे-मुर्झाए, जुड़े हुए, कुत्सित और निष्प्राण? कहीं सुख, कहीं दुःख, कहीं हास्य, कहीं रुदन, कहीं प्रकाश, कहीं अन्धकार, कहीं बहुत और कहीं कुछ भी नहीं। ऐसा ही क्या वहां भी है? परन्तु इस सुख-दुःख से परिपूर्ण जीवन-जाल में केवल यह प्रकाशमान टिमटिमाता रूप ही क्यों दीखता है? चन्द्रमा के मृगलाछन पर उसकी दृष्टि जब गई, तब वह सोचने लगा—ये चन्द्रलोक के पर्वत हैं, या सूखे समुद्र? वहां क्या अभी जीवन है? लोग कभी कुछ कहते हैं, कभी कुछ। उनके अनुमान ही तो हैं। अभी कोई चन्द्रलोक में गया तो है नहीं। चन्द्रलोक, शुक्र, बृहस्पति, सप्तर्षि-मण्डल, ध्रुव—क्या ये कभी इस धरती के मनुष्यों के चरण-स्पर्श करेंगे? या, ये सब असहाय जन भूख, प्यास और अभाव से जर्जरित होकर ही मर जाएंगे?

उसकी विचारधारा बढ़ी। वह सोचने लगा—क्या [illegible] होकर मरने के लिए ही मनुष्य ने जीवन धारण किया? जीवन तो अभाव का नाम नहीं है। फिर जीवन अभाव से परिपूर्ण क्यों है? जीवन को समाज-नियन्ताओं ने सीमित [illegible] [illegible] है। [illegible] मदन ने उसे अभावों से भर दिया है। भूख लगने पर [illegible] का अन्न छीन कर नहीं खा सकता [illegible] [illegible] [illegible] बच रहा है क्योंकि वह मदन की मर्यादा से बंधा है। [illegible] पर शीत से ठिठुरने पर [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] चारों ओर फैली हुई विभिन्न [illegible] [illegible] मदन के मन में बसा है।

वह स्टेशन पर जाता है। लम्बी यात्रा है। तीसरे दर्जे के डिब्बों में भेड़-बकरी की भांति ठसाठस आदमी भरे हैं। फर्स्ट और सेकंड क्लास के डिब्बे खाली हैं—वहां गद्देदार-सुखद सीटें है, सरसर चलते पंखे हैं, सुख है, आराम है, सुविधा है। इसी की उसे चाह है। पर वह भीड़ और गंदगी से भरे तीसरे दर्जे के डिब्बे में जबर्दस्ती घुस रहा है। इसके लिए लड़ रहा है—मनुष्यता से गिर रहा है। क्यों नही वह उन सुखद खाली फर्स्ट और सेकंड क्लास के डिब्बो में जा बैठता, जहां सब-कुछ है। क्यों वह अभाव में मृत्यु ढूंढ़ता है, भाव में जीवन नही? केवल इसलिए कि वह संयम-पाश में बंधा है। उसके पास तीसरे दर्ज का ही टिकट है। अब वह सुभीता होने पर भी उन सुखद फर्स्ट क्लास और सेकंड क्लास के डिब्बो में नही बैठ सकता—इसका विचार ही नही कर सकता।

पति की विचारधाराएं धरती से आसमान तक विचर रही थी—वह अपने में खो रहा था। वह सोच रहा था—इसी तरह, तो मनुष्य, जिसे जीवन मिला है, मृत्यु को ढूंढ़ लेता है। कितना उसका दुर्भाग्य है! कितनी उसकी मूर्खता है! फिर उसका ध्यान उन सुदूर नक्षत्रो की ओर गया—उस चांदी के थाल के समान क्षण-क्षण पर विकसित होते हुए चन्द्रमा की ओर गया। शीतल-मन्द पवन ने बेला के फूलो की महक लेकर उसके मन में गुदगुदी उत्पन्न कर दी।

पत्नी भी पास के पलंग पर लेटी हुई थी, बहुत देर से। आज उसे भी बहुत परिश्रम करना पड़ा था। नौकर बीमार हो गया था। सारा घर और बर्तन साफ़ करने पड़े थे। बच्चों को नहलाना और उनके कपडे भी धोने पडे थे। नौकर के लिए अलग पथ्य बनाना पड़ा था। तीसरे पहर कुछ उसकी मिलनेवालियां आ पहुंची थीं, सो उनके जलपान-आतिथ्य की भी व्यवस्था करनी पड़ी थी। आज पूर्णिमा थी, उसका उप-वास था। वह इन सब कामों से थक गई थी—उपवास से कमजोर हो गई थी। अभी उसने यत्किंचित् लघु आहार लिया था। वह इस स्निग्ध-चांदनी रात में इतनी थकान के बाद इस सुखद पलंग पर आराम पाकर बहुत-सी बातें सोच रही थी। बच्चे सब शीतल वायु के थपेड़ों से सखद

नीद का आनन्द ले रहे थे। दिन-भर की घर-गृहस्थी की खट-पट, चख-पख, वक-झक के वाद इस समय के निर्द्वन्द्व वातावरण में उसे कुछ शाति मिल रही थी। फिर भी, उसका मस्तिष्क शान्त न था। धोवी उसकी नई साडी फाड लाया था। उसकी धुलाई के हिसाव से पैसे काटने थे। दूधवाले का सुवह ही हिसाव करना था। वच्चो की फीस देनी थी। नौकर तो कल भी काम न करेगा। सारे वर्तन यो ही पड़े थे। ओफ़, सुवह उसे कितने काम है। रुपए तो अगले हफ्ते मिलेंगे। कल वह इन सवको रुपए देगी किस तरह? एकाएक उसे याद आया—अरे, राशन भी तो कल ही आना है। कैसे आएगा? जैसे उसका सारा आराम हवा हो गया। उसने वैचेनी से करवट ली। उसकी नज़र फूल के थाल के समान चाद पर गई। वडी देर तक वह उसे देखती रही। फिर उसने आखें वन्द कर ली। वह सोच रही थी—आज मेहमानो के सामने उसे कितना नीचा देखना पडा। पड़ोसी से काच के गिलास माग कर शर्वत पिलाना पडा। एक वार वह घर के सारे अभावो पर विचार कर गई। इतनी वड़ी गृहस्थी और इनका यह हाल! न-जाने किस उधेड-बुन में रहते है। तनिक भी तो ध्यान नही देते—सव मुझे ही भुगतना पड़ता है। वह सोच रही थी, उस उलझन, वोझ और ज़िम्मेदारी के सम्वन्ध में—उस अभाव के सम्वन्ध में जो उसे चारो ओर से दवोचे हुए थे, उस पर लद रहे थे।

एकाएक पति ने कहा—"अहा, क्या इन नक्षत्रो में भी मनुष्य-लोक है? वहा भी क्या प्राणियो का निवास है? क्या कभी इस पृथ्वी के मनुष्य वहा आ-जा सकेंगे? न-जाने कव से कितने वैज्ञानिक इन नक्षत्र-मण्डलो से सम्वन्ध स्थापित करने की जुगत में है। मगल और चन्द्रलोक में जाने के लायक तो, सुना है, राकेट वन गए है। किराया सस्ता हो, तो ज़रा राकेट में वैठकर हम लोग चन्द्रलोक की सैर कर आएं। सुनती हो, चलोगी तुम?"

पत्नी अपने विचारो में डूवी हुई थी। वह समझी थी, पति सो गए है। सो, उसने उनके आराम में खलल देना ठीक नही समझा था। वह चुपचाप अपनी चारपाई पर आ लेटी थी और अपने विचारो में डूव-उतर रही थी। उसने पति की पूरी वात नही सुनी। जो सुनी, वह ठीक-ठीक नही

समझी। पति जाग रहे है, यह जानते ही उसने जैसे एकाएक सावधान होकर कहा—"क्यो जी, घर में एक भी काच का गिलास नही है। बडी खराब बात है। आए-गयो के सामने कितना शर्मिन्दा होना पड़ता है।"

पति की सारी विचारधारा छिन्न-भिन्न हो गई। नक्षत्र-मण्डलो से उसके सम्पर्क समाप्त हो गए। विज्ञान की विश्वव्यापिनी प्रक्रिया अन्तर्हित हो गई। उसने पत्नी के थके हुए, सूखे, नीरस, उदास मुख की ओर देखा—उसकी टूटी चारपाई और चारपाई की फटी चादर को देखा। अपनी गरीबी से भरी गृहस्थी का एक समूचा चित्र उसकी आंखो मे बन गया। पत्नी के इस एक छोटे-से वाक्य ने जैसे उसकी सारी ज्ञान-गरिमा को चुनौती दे दी हो। वह लज्जित-सा, मर्माहत-सा, अपराधी-सा, भयभीत-सा, चुपचाप पत्नी की चिन्ताकुल दृष्टि को देखने लगा, जिसमें अभाव-ही-अभाव था, थकान-ही-थकान थी, व्यथा-ही-व्यथा थी, चिन्ता-ही-चिन्ता थी।

उसके मुह से बोल नही निकला। उसे हठात् याद आया कि विवाह के समय जब शुभ-दृष्टि की रस्म अदा हुई थी, तो इसी दृष्टि में शुक्र नक्षत्र-जैसा तेज और उज्ज्वल आलोक देखकर किस प्रकार उसके शरीर के रक्तबिन्दु नाच उठे थे—उसका अस्पष्ट जीवन-पथ आलोकित हो उठा था। वही दृष्टि आज इतनी सूनी हो गई! आज उस पर नजर पडते ही मन दर्द मे कराह उठा। उसने और ध्यान से पत्नी को देखा। उसकी साड़ी मैली और फटी हुई थी। दिन-भर काम-काज करने के बाद भी उसने उसे बदला नही था—इसलिए नही कि उसने आलस्य किया था, या वह फूहड थी—दूसरी धोती उसके पास थी ही नही। उसके बाल भी रूखे थे। उनमे न तेल डाला गया था, न कंघी की गई थी। उस मैली-फटी साडी मे, रूखे और उलझे हुए बालो के नीचे, उसका सूखा मुह, मुर्झाए हुए होठ, चिन्ताकुल आखें। उस टूटी चारपाई पर बिछी फटी चादर पर लेटा हुआ उसका जीर्ण शरीर उसने देखा।

हठात् उसके मन मे एक बात आई। आह, अपने जीवन में अपनी तूलिका से मैंने इतने चित्र बनाए! जीवन को इतना रंग दिया। लेकिन

यह जो जीवित चित्र मैंने बनाया है, इस पर तो कभी ध्यान ही नही दिया। इसके सम्मुख मेरे अब तक के बनाए हुए सारे चित्र हेय हैं—सब निर्जीव है, सब नकली है, असत्य है। उनमें सौंदर्य है, प्रकाश है, रंगीनी है, पर जीवन कहा है? वे जीवित कहा है? जीवित चित्र केवल यही मैं बना पाया हूं।

निस्सदेह यह चित्र मेरा ही बनाया हुआ है। मेरी यह पत्नी वह नही है, जो अब से बीस साल पहले व्याह कर आई थी। यह तो मेरे द्वारा बनाई हुई मूर्ति है। इसे बनाने में मुझ कलाकार के बीस वर्ष लग गए! निस्सदेह बीस वर्ष! इन बीस वर्षो मे इसके गुलाबी चमकदार गालो को पीला पिचका हुआ बनाया गया, उन पर झुरियो की रेखाए अकित की गई। इन नेत्रो का मादक तेज, कटाक्षो का विद्युत्-प्रवाह, घो-पोछकर इनमे अमिट सूनापन पैदा किया गया। प्रेम का आमन्त्रण-सा देनेवाले इन सरस होठो को सुखाकर फीका किया गया। उन्नत युगल यौवनो को ढहा दिया गया। अब वे उसके अतीत यौवन के एक प्रामाणिक इतिहास बन गए थे। उसकी मृदुल-सुचिक्कण अलका-वलियो को जगली झाड़ियो का रूप दे दिया गया था।

आप कह सकते हैं कि यह तो रूप को अपरूप कर दिया गया। सो, इसमे क्या मेरी कला सदोप होगी? कलाकार सौन्दर्य के उन्माद का ही चित्रण करने का ठेकेदार नही है, वह अपरूप का भी सर्जन करेगा। उनका काम मदिरा की बोतल भरना नही, सत्य के दर्शन कराना है, सत्य को मूर्त करना है—वह सत्य, जो शताब्दियो-सहस्राब्दियो से होता आ रहा है, होता रहेगा। यही तो उसकी कला है। मैंने यही किया।

पत्नी की ओर पति ने प्यार-भरी चितवन से देखा। वह चाहता था कि अपनी इस कृति को, जिसे उसने प्रकृति पर विजय पाकर बनाया है, प्यार करे। परन्तु वह उस समय थकान से चूर-चूर होकर सो गई थी। वह गहरी नींद में सो रही थी।

वह चौंक पड़ा। ओह! यह गहरा विश्राम तो इस जीवित चित्र की एक भिन्न ही रेखा है। इसका तो मैंने विचार ही नहीं किया था। मैं सोच रहा था कि इस अपरूप को जीवन मैंने दिया। परन्तु अब समझ

रहा हूं कि उसके व्यस्त जीवन में बीच-बीच में ऐसे ही गहरे विश्राम के विराम निरन्तर बीस वर्ष तक होते रहे, उन्हींने उसमें जीवन क़ायम रखा है। वह लज्जित हुआ। ठीक, ठीक, यह त्रुटि रह गई। उसके माथे में रेखाएं पड़ गईं। वह सोचने लगा, इस विराम का तो चित्रण शायद न हो सकेगा। फिर जीवन से उसका सामंजस्य कैसे स्थापित हो पाएगा?

वह कुछ भी निर्णय न कर पाया। वह पति भी था और कलाकार भी। इस समय पति भी कुछ सोच रहा था और अपनी पराजय पर लज्जित हो रहा था, परन्तु कलाकार गम्भीर था। वह और भी गहरी बात सोच रहा था। वह सोच रहा था, कला के अपने दृष्टिकोण के सम्बन्ध में। वह सोच रहा था, यही गहरा विश्राम यदि चिर विश्राम में परिवर्तित हो जाए? तो फिर, मेरी यह मूर्ति मेरी कला की प्रतिष्ठा-भूमि पर अप्रतिम रहेगी तो?

पत्नी ने उसके विश्रान्त-अभिशप्त मुख पर दृष्टि जमाई। उज्ज्वल कौमुदी का विस्तार करता हुआ चन्द्रमा, सुदूर गगन में टिम-टिमाते तारे—सभी देखते रह गए।

कलाकार ने मूर्ति की प्रतिलिपि तैयार की। इस भय से, कि कहीं काल उसकी रेखाओं में हस्तक्षेप न कर दे, उसने पत्थर पर ही हस्तक्षेप किया। प्रतिलिपि उसी पति की पत्नी थी। वही सूखे होंठ, सूनी दृष्टि, बुझी हुई चितवन, ढले हुए गाल और परास्त यौवन। इस मूर्ति में कलाकार ने अपनी कल्पना का एक कमाल किया था। उसने मूर्ति में उस चिर विश्राम को अप्राप्य अंकित किया था और उसकी गहरी आंतरिक भूख मूर्ति की पलकों में सजा दी थी। इस प्रतिकृति का नाम रखा उसने—'धरती और आसमान'।

सुबह की कमज़ोरी

चन्द्रकिरण सौनरेक्सा

घड़ी ने साढे-छः बजे की एक टन वजाई। सुशीला ने चादर से मुंह वाहर निकाला और सोचा कि अब लेटे रहने से काम नही चलेगा। यो नीद तो उसे बहुत कम आती है—चार, पाच और छ के घण्टे उसने चारपाई पर करवटें बदलते ही सुने थे। परन्तु उठने के समय उसके तन-मन पर एक थकान और सुस्ती-सी छाई रहती है। डाक्टर का कहना है कि इसे 'सवेरे की कमज़ोरी' कहते है। चार महीनो से वह दवा खा रही है, इन्जेक्शन भी लग रहे है, पर रोग है कि जाने का नाम नही लेता। बस, रात-दिन देह व मन पर एक जडता-सी छाई रहती है। भूख भी कम लगती है और कोई काम करने में मन नही लगता। परन्तु गृहस्थी है, पति है, तीन बच्चे है—काम तो करना ही होता है।

सुशीला ने मुह पर छितरा आई लटो को हाथ से पीछे किया, साड़ी का पल्ला ठीक किया और उठ बैठी। धीरे-धीरे घर के काम-काज प्रतिदिन की दिनचर्या के रूप में चलने लगे। नौकर छोकरे की सहायता लेकर घर-आगन बुहारा गया, चूल्हा जला, नाश्ता बना। पति को चाय भेजी। साढे-नौ तक भोजन भी बन गया। पति के दफ्तर और बच्चो के स्कूल जाने के वाद वह अपना नहाना-धोना करेगी। तब यदि इच्छा हुई, तो दो रोटी खा लेगी। घर में काम ही कौन अधिक है। दोनों बडे लडके स्कूल चले जाते है। बस, पाच वर्ष की चुन्नी ही घर की सफाई और निस्तब्धता को भग करने के लिए रह जाती है। पति

मनोहरलाल अच्छे स्वस्थ पुरुप हैं। अवस्था होगी यही पैंतीस-छत्तीस की, पर देखने मे इससे भी कम के ही जचते हैं। पत्नी की वीमारी से वे भी परेशान है। पिछले साल जव सुशीला के पाचवी मृत सन्तान ने जन्म लिया, तभी से वह वीमार है। ऐसी वीमारी तो नही कि चारपाई पर पड़ी रहे, या वुखार उतरता ही न हो, पर वह दिनोदिन कमज़ोर होती जाती है, चिडचिडी भी। दवा-इलाज में मनोहर वावू कमी नही करते। फल-दूव, जो चाहे, मंगाए-खाए। तनख्वाह तो वे पूरी-की-पूरी पत्नी के हाथ पर रख देते हैं।

दफ्तर को चलने के लिए तैयार हो, मनोहर वावू ने रसोईघर के द्वार पर खड़े हो, नित्य की भाति, प्रश्न किया—"आज तवीयत कैसी है?"

"अच्छी ही है!"—सुशीला ने भी पुराना उत्तर दोहराया।

"देखो, दवा समय पर ले लिया करो। वीच-वीच मे दवा छोड देती हो, तभी रोग नही जाता। और हां, डाक्टर ने कहा है कि प्रात काल मील-आध मील टहल आया करो, तो जल्दी ही स्वास्थ्य सम्भल जाएगा।"

सुशीला ने तवे पर अन्तिम फुलका छोड़ते हुए अलस भाव से कहा—"हूं।"

पति ने तनिक खीझ से कहा—"तुम तो किसी वात पर ठीक-ठीक अमल ही नही करती। ज़रा सूरत तो देखो, कैसी होती जा रही है। कल से सवेरे टहलने अवश्य जाया करना।"

"लेकिन किसके साथ जाऊं?"—इस वार सुशीला ने मुंह ऊंचा किया—"तुम तो सात वजे से पहले उठते ही नही।"

किसके साथ? यह तो मनोहर वावू ने सोचा ही नही था। दो क्षण रुककर वोले—"सुभाप को जगा लिया करो। उसका भी टहलना हो जाया करेगा। और, न हो, तुम अकेली ही जा सकती हो।···अच्छा, तो चलू। शाम को कुछ देर से लौटूंगा। वावू श्यामलाल के यहां चाय-पार्टी है।" कहते-कहते मनोहर वावू साइकिल पकड कर वाहर चल दिए।

सुशीला का मन, न-जाने क्यो, खीझ से भर गया। कुछ वात भी नहीं है। पति ने कोई कडी वात नहीं कही—कभी भी नही कहते, वल्कि जव मे

वह बीमार रहने लगी है, तब से तो वे सभी बातों में सतर्क रहने लगे हैं। डाक्टर ने कहा है, अब दो-चार वर्ष सन्तान नहीं होनी चाहिए। और, सुशीला जानती है, इधर चार महीनों में मनोहर बाबू इस बारे में कितने सतर्क हैं। ऐसा भला पति दुनिया में किसे मिलता है! पति के प्रति मन में वह अत्यन्त कृतज्ञ है। परन्तु इस समय केवल इतनी ही बात पर उसका मन रोष से, खीझ से, भर उठा। कैसे सहज भाव से कह दिया—'न हो, सैर करने अकेली ही चली जाया करो।' अकेली! ठीक है, मैं अब बूढ़ी हुई। नीली नसें उभरी हुई अपनी गोरी (या हल्दी-सी पीली) पतली बाहों को देख कर उसने सोचा—"क्या बचा है अब मुझमें? एक पहरेदार साथ लगा कर वह क्या करेगी?" हां, फागुन से उनतीसवां शुरू हो गया उसे। तीस के बाद तो औरत बूढ़ी हो हो जाती है—बूढ़ी! कब, किस अप्रत्याशित क्षण में, समय राक्षस ने उसका यौवन चुरा लिया? रसोई वैसी ही छोड़कर वह कमरे में आ गई। वैसी ही सिलवटें-पड़ी मैली धोती पहने वह शृंगार-मेज के सामने जा खड़ी हुई। नाक पर जगह-जगह कालिख लगी हुई थी। गाल पिचके, आंखें निस्तेज। तो वह बूढ़ी हो गई है! इसी से इन्हें मुझमें कोई आकर्षण नहीं प्रतीत होता। इन्हें क्या, शायद किसी के लिए भी कोई आकर्षण शेष नहीं रहा।

सुशीला को लगा, उसकी वह सवेरे की कमज़ोरी अब आज 'दोपहर की कमज़ोरी' भी बन गई है। माथा थाम कर वह वहीं चटाई पर लेट गई। लेटे-लेटे सोचा—अभी चार-पांच साल पहले तक वह जब भी गली-बाजार में निकल जाती थी, हमेशा इसी बात का खटका लगा रहता था कि कहीं कोई बोली-ठोली न मार दे। भीड़ में कोई जान-बूझ कर धक्का न दे दे। 'मुए, तेरे मां-बहन नहीं है।' की गाली तो सुशीला ने न-जाने कितनों को, कितनी बार, दी है। कैसी मुसीबत थी उन दिनों, पर इधर तो याद नहीं आता, कब से, कितने दिनों से, उसने यह सब नहीं सुना। न-जाने क्यों, सुशीला का मन हुआ कि काश, वे दिन फिर लौट आते। उसे अपने मोहल्ले के गणेश की गाई पंक्ति याद हो आई, जिसे वह उसे अकेली पाकर गा उठता था—"जानी, जोबना पे इतना न इतराया करो—ओ!" कितना क्रोध आता था उसे गणेश पर। जी होता था, कि मरे का मुंह झुलस दे। और, मुंह न झुलस

पाने की असमर्थता को वह अपने गले के आंचल से अपने को दवा-ढंक कर, सिर नीचा करके, कतरा कर निकल जाने में पूरा करती थी। साथ ही, छोटे की याद भी आ गई। वह तो उसे देखते ही "हायरी पटाखा!" कहकर छाती पर हाथ रख लेता था। वह उसे देखते ही झट से किवाड़ बन्द कर लेती थी। आज उन पुरानी स्मृतियो की रेखाएं उभर आईं, तो सुशीला सोचने लगी—"क्यो मुझे उस पर इतना क्रोध आता था? उन वेचारों का कुसूर ही क्या था?" उस समय की वह गदराई, कच्ची, लम्बी-सी भरी-भरी देह, गोल-मांसल कलाइयां और फूली-फूली खूब लाल सिकी कचौरी से गाल—होंठ मानो पके हुए करौंदे हों। क्या जवानी चढी थी उसे भी! वोली-ठोली मारनेवालों को ही क्या दोप दिया जाए! खैर, अब तो इवर मुद्दतों से मुसीवत दूर हो गई। उसने माथे पर वल देकर सोचा—"अव इवर तो कभी किसी ने इतना भी नहीं कहा कि चलिए देवी जी, मैं पहुंचा दूं?" कमजोरी वढती जा रही थी। सुशीला भूखी-प्यासी वहीं चटाई पर सो गई।

*	*	*	*

दो वार सुभाप को जगाया, पर कुनकुना कर वह फिर सो गया। सुशीला का जी हुआ, न जाए। इतनी दवा खाती है, इन्जेक्शन भी लिए हैं, पर जव खून वनता ही नही, कमजोरी दूर ही नही होती, तो सवेरे की सैर में क्या अमृत घुला है? परन्तु पति उठ कर दु.खी होंगे, कहेंगे—"पानी की तरह पैसा इलाज में जा रहा है। पर तुम डाक्टर की वात नहीं मानती। सुवह की सैर को नहीं जाती, तो आराम कैसे आए?" द्वार से झांका, आकाश में अभी तारे अपने मन्द पड़ते प्रकाश से धरती को निहार रहे थे। उदास, फीका पड़ता चांद भी एक कोने में दुवका हुआ था। पूरव की ओर का आकाश कुछ-कुछ सफेद हो चला था। सवेरा होने में आध घण्टे की देर थी। दिन चढ़ जाने से एक तो सड़को पर भीड़ वढ जाती है और फिर घर का काम किस समय होगा!

दवा के कड़वे घूट की भांति सुशीला ने इस वीस मिनट की सैर को भी निगल जाना ही उचित समझा। पैरो में चप्पल डाली और द्वार धीरे से वन्द कर वाहर आ गई। हवा में ताजगी थी। परन्तु यो अकेले पागलो की

भांति सड़कों पर घूमना उसे तनिक भी नहीं रुचा। इक्के-दुक्के सैर के शौकीन बूढ़े बेंत हिलाते इधर-उधर आ-जा रहे थे। पड़ोसी के कटीन का छोकरा अंगीठी में कोयले सुलगा रहा था। सुशीला ने जल्दी-जल्दी सड़क पार की और उजाले की फूटती हल्की रेखाओं में वह युक्लिप्टस रोड पर आ गई। सैर करने को यह सड़क बहुत अच्छी है। पक्की, साफ-सुथरी, दोनों ओर ऊंचे-ऊंचे युक्लिप्टस के पेड़, दूर-दूर बसे दो-चार कोठी-बंगले। परन्तु अकेले चलते उसे न-जाने कैसा लग रहा था। यह भ्रम नहीं था कि इस सवेरे के झुटपुटे में कोई उसके पीछे लग कर घर तक पीछा करेगा, या चलते हुए जान-बूझ कर कोहनी मार जाएगा। क्या देखकर किसी के मन में यह सुरूर उभरेगा ? फिर भी भय-मुक्त शंकारहित सुशीला बड़ी मजबूरी से यह सैर का घूंट निगल रही थी। सड़क खत्म हो गई और चौराहा आया। वह लौट पड़ी। शहर की गुंजान सड़कों पर जाने से क्या लाभ ? छः बजे वह घर आ गई। अभी कोई नहीं जागा था। द्वार उसी प्रकार ढके हुए थे। प्रातःकालीन वायु ने उसके मस्तिष्क में ज़रा-सी स्फूर्ति अवश्य दी थी। परन्तु उस स्फूर्ति की अपेक्षा उसके पांवों की थकन अधिक थी। बड़ी कमज़ोरी लग रही थी। वह चुपचाप मुन्नी के खटोले के पांयते लुढक गई। आहट से मनोहरलाल की आंख खुली। अंगड़ाई ले, सुस्ती दूर करते हुए, उन्होंने पूछा—"सैर कर आई ?"

पत्नी ने सिर हिला कर हामी भर दी।

"कैसा लगा ?" पर सुशीला कुछ नहीं बोली। मनोहर उसी रौ में कहते गए—"अब बिला नागा जाया करना। देख लेना, फायदा ज़रूर होगा।" और, पत्नी को निढाल पड़ी देख इतना और जोड़ दिया—"भई, अकेले न जा सको, तो मुझे जगा लिया करना। इस बहाने मेरा भी घूमना हो जाया करेगा।"

तीन-चार दिन निकल गए। सुशीला अकेली ही सैर को निकल जाती। एक-आध बार मनोहर को जगाने की इच्छा हुई भी, तो यह सोच कर रह जाती, कि रात देर तक जाग कर दफ्तर का काम करते हैं, फिर गरमी और मच्छरों से परेशान रहते हैं—सवेरे की ठंडक में सोए हुए हैं,

तो अब मुंह-अंधेरे क्या उठाऊं? सडक पर शेर-भालू थोडे ही होते हैं, जो मझे खा जाएंगे? और, मेरी इस सैर से कोई फायदा भी तो दिखता नही। दस-पाच दिन देखती हू, फिर बन्द कर दूगी। वह अपनी उभरी नीली नसो वाली पतली बाहों को ताकती और फिर चप्पल घसीटती निकल पड़ती।

* * * *

आज बड़ी गरमी थी। रात करवटें बदलते ही बीती थी। सैर के लिए सुशीला उठी, तो सिर भारी हो रहा था। सोचा, लाओ, थोड़ा यू-डी-कोलोन ही मलू। दूसरे कमरे में जा बिजली जलाई। शृगार-मेज़ पर रखी शीशी उठाने लगी, तो उसमें लगे दर्पण में दिखा, धोती सिर पर से फटी है। वैसे तो अभी अधेरा ही था, कौन देखता है? परन्तु लौटने तक उजाला हो जाता है। कही कोई इनका परिचित ही मिल गया, तो सोचेगा—हेडक्लर्क की पत्नी है, फटी धोती पहने है। अलगनी पर टगी रगीन वाइल की साडी उतार कर पहनने लगी, तो ब्लाउज़ पर दृष्टि गई। लाओ, इसे भी बदल लू—इस साडी के साथ मैला दिखाई पडता है। और फिर, कन्धे से ज़रा बाल भी सवारे। मुह पर तनिक-सी क्रीम भी मली, बिन्दी भी लगाई और बिन्दी का गोलापन जो उंगलियो में लग गया था, होंठो पर रगड़ लिया। शीशे में देखा, पीला-सूखा चेहरा जरा निखर आया था। अपने-आपको ही कुछ अच्छा-अच्छा लगा। अब इन कपड़ो पर पुरानी चप्पलें क्या पहनें। सैण्डल निकाले और पहन कर बाहर आ गई। हवा लगी, तो यू-डी-कोलोन से मिल कर माथे का दर्द उड़-सा गया। सूनी सड़क पर चलते-चलते शीशे में देखे (बिन्दी के लाल) अपन ही होठ उभर आए। कभी उसके होठ असल में भी वैसे ही थे, तभी तो……तभी तो……!

कान के पास कोई साइकिलवाला घण्टी बजाता झट से निकल गया, तो सुशीला सजग हुई। उसे अपन पर ही हँसी आ गई। आज वह किस धुन म इस नई सड़क पर निकल आई थी। खैर, आज इधर ही सही। यह नगर का राजमार्ग नही था। छोटी बस्ती की लम्बी-पतली सड़क थी। दोनो ओर टीन से छाई या ईंटो से बनी छोटी दुकानें, सस्ते ढ़ाबे थे।

सड़क के किनारे चारपाइयां बिछाए कितने ही व्यक्ति सो रहे थे। दुकानों के चबूतरों पर भी कुछ बच्चे नौकर लुढके पड़े थे। एक-दो पक्की हवेलियां भी बीमार जिस्म पर खूबसूरत गहनों की तरह सिर उठाए खड़ी थी। इक्का-दुक्का व्यक्ति कभी सड़क पर से गुज़र भी जाता था। सुशीला सड़क पूरी कर मुड़ने लगी, तो जैसे उसे अपने कानों पर विश्वास न आया। कोई कह रहा था—"मेरी जान! सवेरे-सवेरे ?" सुशीला सिहर गई। देह का ठंडा पड़ा रक्त तेज़ी से दौड़ पड़ा। उसने अकचका कर इधर-उधर ताका। सामने जिस छोटी दुकान पर 'हिमालय टेलरिंग हाउस' का धुंधला बोर्ड लगा था, उसी के चबूतरे पर धारीदार पायजामा और नीले चैक की कमीज़ पहने कोई व्यक्ति खड़ा दातून कर रहा था। अच्छा गोरा-चिट्टा, लम्बा-चौड़ा, तीस-बत्तीस की आयु का होगा। सुशीला को उधर ताकते पाकर उसने कहा—"हाय रे ज़ालिम, निगाह···निगाहें।"

और, सुशीला आगे बिना कुछ सुने घर की ओर उल्टे पांवों भागी! भागती ही गई! उसकी सांस फूल रही थी। मन में सोच रही थी, कोई मुझे देख कर क्या कहेगा? परन्तु अपने द्वार पर आकर ही उसके पांव रुके। भीतर गई। सभी सो रहे थे। वह सीधी दूसरे कमरे में गई और शृंगार-मेज़ के पास बिछी चटाई पर धप् से बैठ गई। ना बाबा, आज से वह कभी अकेली सैर को नहीं जाएगी। देखो तो मुए को। मैं भी क्या कल की लड़की हूं, जो आवाज़ें कसने लगा। वह वहीं लेट गई, पर आज दौड़ कर आने पर भी उसे कमज़ोरी नहीं लग रही थी। कोई उसके मन में कह रहा था—अभी भी उसे एक पहरेदार की ज़रूरत है। वह बूढ़ी नहीं हुई है! फुर्ती से उठ कर वह शृंगार-मेज़ के दर्पण के सामने खड़ी हो गई। देखा, आज उसके गाल कुछ अधिक लाल हैं। आंखें अधिक चमकीली हैं। होंठों में ताज़गी है। बस, सिर्फ यह देह दुबली है। उंह! वह वहां से हट आई। ज़रा तन्दुरुस्त हो जाऊं, तो देह भी भर जाएगी।

प्रति दिन की भांति आज सुशीला को 'सुबह की कमज़ोरी' महसूस नहीं हो रही थी। रात की उलझी लटों को खोल, कंघा फेरती हुई, वह किसी पुराने रसगीत की कड़ी गुनगुनाती आंगन में टहलने लगी।

कल से वह उन्हें साथ लेकर सैर करने जाया करेगी। न बाबा, ये मुए!

सुशीला अब जल्दी-जल्दी स्वस्थ हो रही है। वह अभी तक युवती है और अभी काफी समय तक युवती बने रहने का उसने निश्चय कर लिया है।

पुलाव और सरदी !

चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

डाक्टर सक्सेना पागलखाने के वडे डाक्टर के कमरे के सामने पहुच कर कुछ रुके ही थे कि चपरासी एक चिट और पेन्सिल उनके सामने ले आया। परन्तु उसकी नितान्त उपेक्षा कर डाक्टर सक्सेना चिक उठाकर एकाएक अपने पुराने मित्र के कमरे के भीतर पहुच गए और वोले—"कहो, क्या हाल है, मित्र रामपाल ?"

डाक्टर रामपाल सहसा चौंक कर खडे हो गए। आश्चर्ययुक्त आनन्द के साथ उन्होने कहा—"अरे यार, तुम हो— सक्सेना ? इतने वरसो के वाद इस तरह विना किसी पूर्व सूचना के तुम ने कभी यो भेंट हो जाएगी, इसकी मै कभी कल्पना भी नही कर सकता था।"

डाक्टर सक्सेना ने हँसते-हँसते कहा—"वात यह है दोस्त, कि पागलखानो के डाक्टर आम तौर से खुद भी पागल वन जाते हैं। पूरे नही, तो आधे ही सही। फिर, तुम तो भाई, २७ वरसो से पागलखानो के 'वडे' डाक्टर हो। सो, मै यह देखने आया था कि तुम्हारे पूरी तरह पागल वन जाने में अव कितनी कसर वाकी है! इस काम के लिए भला मैं पूर्व सूचना किस तरह भेजता ?" डाक्टर सक्सेना की हँसी इतनी अधिक वढ़ गई थी कि उनकी वात समझना भी कठिन वनता जा रहा था।

मगर डाक्टर रामपाल ने वड़ी गम्भीरता से इतना ही कहा—"मालूम है, इतना अचानक तुम्हें यहां देखकर मैं क्या समझा था ?"

"क्या ?"

"आज सुबह-सुबह यह कौन नया पागल यहा भरती होने के लिए लाया गया है, जिसकी शक्ल और आवाज, दोनो मेरे मित्र सक्सेना से इतना अधिक मिलती है।"

खूब खुल कर हँस लेने के बाद दोनों मनोवैज्ञानिक मित्र काम-काज की बाते करने लगे। डाक्टर सक्सेना देश के ख्यातिप्राप्त मनोवैज्ञानिको में है और नए अनुसन्धान के लिए देश के बड़े-बड़े पागलखानो का दौरा कर रहे है। डाक्टर रामपाल उनके सहपाठी रहे है और दोनो की मित्रता बहुत पुरानी है।

डाक्टर रामपाल के कमरे के सामने मखमली घास से मढा हुआ खुला सहन है, जिसके चारो ओर रग-बिरगे गुलाब महक रहे है। इस मैदान में दो आरामकुर्सिया डलवा कर दोनो मित्र जम कर बैठे गए। जनवरी का महीना था और आकाश-भर मे एक हल्की-सी धुन्ध छाई हुई थी। ११ बज जाने पर भी धूप में गरमी का नाम तक नही था। दूर पर पागलखाने का बडा फाटक था, जहां बीसो मानसिक बीमार सीकचो के पीछे से अपने रिश्तेदारो से मिल रहे थे। यहा हास्य तथा रुदन-मिश्रित विविध स्वरो का जो ऊचा कोलाहल हो रहा था, वह इन दोनो मनोवैज्ञानिको के विचार-विनिमय के लिए जैसे बहुत ही उपयुक्त पृष्ठभूमि उपस्थित कर रहा था।

डाक्टर सक्सेना ने अपने दोस्त से पूछा—"कुछ पढते-लिखते भी रहते हो, मित्र ?"

रामपाल ने कहा—"पढ़ने-लिखने की फुरसत ही कहां मिलती है!"

डाक्टर सक्सेना ने रूस, अमेरिका, इग्लैड और फ्रास के जगत्-प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिको की नई किताबो के सम्बन्ध मे पूछा, तो मालूम हुआ कि डाक्टर रामपाल का उन नामो से परिचय तो जरूर है, मगर उन्होने उनमें से किसी एक की भी कोई नई किताब नही पढी। इस पर डाक्टर सक्सेना ने संसार के मनोविज्ञान-सम्बन्धी प्रसिद्ध पत्रो के कतिपय महत्वपूर्ण लेखो का जिक्र किया। ये लेख डाक्टर रामपाल की निगाह से जरूर गुजरे थे, परन्तु पढने की फुरसत उन्हें इन लेखो के लिए

भी न मिल पाई थी। डाक्टर सक्सेना ने कहा—"दोस्त, आखिर तुम पूरी तरह एक मुफस्सिल आदमी ही बन कर रहे न ! याद है, मैं कहा करता था कि रामपाल 'जीनियस' तो जरूर है, मगर है बस, कुए का मेढक ही !"

सक्सेना की इस बात की हँसी में रामपाल ने दिल खोल कर सहयोग दिया और जैसे सफाई के तौर पर कहा—"गीता में लिखा है न कि चारो तरफ– मीलो तक– मधुर, स्वच्छ और शीतल पानी भरा रहने पर भी एक समझदार मनुष्य के लिए उतना ही पानी काम का है, जितना वह पी सकता है ! सो, भाई सक्सेना, मैं भगवान् कृष्ण के इसी सिद्धान्त का कायल हू।"

डाक्टर सक्सेना ने गम्भीर होकर कहा—"देखो रामपाल, अब तुम बूढे होने पर आ गए। नही तो, मै तुमसे कहता कि चाहे और जिस 'विज्ञान' पर दृष्टि फेरो, इस बेचारे 'मनोविज्ञान' को छोड दो !"

"मनोविज्ञान इतना बेचारा कब स बन गया मित्र ?"

"जब से तुम्हारे-जैसे उपासक उसे मिले। खैर, मजाक की बात छोडो। यदि कही आज मै फिर से अपने जीवन का प्रारम्भ कर सकू, तो मैं मनोविज्ञान की अपेक्षा जीव-विज्ञान को अपना विषय चुनूगा।"

डाक्टर रामपाल भी अब सचमुच गम्भीर हो गए और उन्होने उत्सुकता से पूछा—"वह क्यो ?"

"वह इसलिए कि जिन तत्वो को हम 'मनोजगत्' के स्तर का मानते हैं, वे तत्व भी बाद में भौतिक जगत् के तत्व सिद्ध हो जाते है। सच बात तो यह है, कि मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के सम्बन्ध में अभी तक हमारी जानकारी इतनी कम है, जितनी कि प्रागैतिहासिक काल में भौतिक विज्ञान के सम्बन्ध में थी— जब मनुष्य आग को ससार का सबसे बडा चमत्कार समझा करता था।"

"पर इस परिस्थिति से हम निराश क्यो हो, सक्सेना ?"

"इसलिए कि मनोविज्ञान को साधक भी मिले है, तो तुम्हारे-जैसे !"

"यह लेक्चरबाजी छोडो, सक्सेना। यह बताओ कि मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व से तुम्हारा अभिप्राय क्या है ?"

"मनुष्य के भौतिक शरीर के अतिरिक्त उसका जो-कुछ भी अस्तित्व है; मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—यहां तक कि आत्मा भी—उन सब को मैं मनुष्य का आध्यात्मिक व्यक्तित्व कह रहा हूं। मगर मुश्किल तो यह है, कि उन सबमें से कुछ भी तो पकड़ में नही आता। जो पकड़ में आता है, वह सब देर या सवेर उसी तरह भौतिक सिद्ध हो जाता है, जिस तरह मैलंकोलिया स्नायवीय श्रेणी की एक बीमारी सिद्ध हो गई।"

मगर डाक्टर रामपाल जैसे अब सक्सेना की बात ही न सुन रहे थे। डाक्टर सक्सेना की चाल कारगर हो गई थी और वे अपनी पैनी बातों से रामपाल को ठीक मूड में ले आए थे।

दो-चार क्षण दोनों मित्र चुपचाप बैठे रहे। इस चुप्पी को पागलखाने के दरवाजे से आनेवाला हास्य-मिश्रित आर्तनाद और भी अधिक तीव्र बना रहा था। उसके बाद डाक्टर रामपाल ने धीरे-धीरे कहना शुरू किया—"मनुष्य के आध्यात्मिक व्यक्तित्व की चिन्ता मुझे नही है, सक्सेना! वह तो लम्बी साधना का क्षेत्र है। मुझे तो कभी-कभी यह देख कर बहुत बडा विस्मय होता है कि एक ही मनुष्य के भीतर समान शक्ति के दो परस्पर-विरोधी व्यक्तित्व किस प्रकार छिपे रहते हैं।"

डाक्टर सक्सेना ने बड़ी उत्सुकता से कहा—"केस-हिस्ट्री, रामपाल! केस-हिस्ट्री!"

"अच्छा, तो केस-हिस्ट्री ही सुनो।" और, डाक्टर रामपाल ने कहना शुरू किया—"लगभग ५ बरस हुए, एक दिन प्रातःकाल एक नए पागल को मेरे पास लाया गया। एक अच्छा-भला नौजवान 'पुलाव गरमागरम! मटर-पुलाव गरमागरम!' की पुकार लगाते-लगाते मेरी तरफ आ रहा था और उसके साथ ग़मगीन-सी शक्ल में दो-चार स्त्री-पुरुष थे। वह नौजवान कुछ ऐसे अन्दाज़ से 'गरम पुलाव' की पुकार लगाता था कि यह समझना कठिन था कि वह 'मटर पुलाव' कह रहा है या 'मटन पुलाव'; मगर मिनट-भर में सम्पूर्ण पागलखाने का ध्यान उस नौजवान ने अपनी ओर ज़रूर खींच लिया।

"मालूम हुआ कि उस नौजवान का नाम प्यारेलाल है—उम्र २७ वर्ष, शरीर और ढाचा मध्यम । निम्न मध्यम श्रेणी का वह युवक किसी दफ्तर में क्लर्क था । उसकी पत्नी उसकी अपेक्षा कही अधिक रोबीली थी और घर में उसी का हुक्म चलता था । प्यारेलाल को पुलाव बहुत पसन्द थे और अपनी पत्नी से वह सदा पुलाव बनाने की माग किया करता था । उसकी पत्नी का कहना था कि अच्छा चावल अब बहुत महगा है और पुलाव बनाने में घी को पानी की तरह बहाना पड़ता है । नतीजा यह था कि प्यारेलाल को पुलाव नसीब नही होते थे ।

"उस प्रभात से एक दिन पहले भी प्यारेलाल सदा की तरह सुबह भोजन कर दफ्तर चला गया था । दफ्तर से वह सदा साझ के ६ बजे घर वापस आया करता था । पर उस रोज़ उसके दफ्तर में एका-एक छुट्टी हो गई और वह दोपहर के डेढ बजे ही घर वापस आ पहुचा । उसका खयाल था कि उसकी पत्नी या तो कहीं पडोस में गई हुई होगी, या सो रही होगी । पर यह देखकर प्यारेलाल के आश्चर्य की सीमा न रही कि उसका घर स्वादिष्ट पुलाव की सोधी-सोधी सुगन्ध से महक रहा है और घर के आगन में उसकी पत्नी और उसके तीन साले एक साथ भोजन कर रहे है । चारो के सामने के थाल गरमागरम पुलाव से भरे हुए है और साथ ही देगची खाली पडी है । यह कल्पनातीत दृश्य देखकर प्यारेलाल ने जो हँसना शुरू किया, तो हँसता ही चला गया । जब तक प्यारेलाल की हँसी रुकी, तब तक वह पत्नी-भीत, हीन-मध्य श्रेणी के क्लर्क से, ऊची आवाज़ में गरमागरम पुलाव बेचने वाला एक पागल बन चुका था ।

"पहले ही दिन से प्यारेलाल पागलखाने की इस बस्ती मे 'पुलाव वाले' के नाम से प्रसिद्ध हो गया । मैंने उसका अध्ययन किया । एकदम साधारण कोटि का व्यक्तित्व था उस व्यक्ति का । अपनी पत्नी से वह जितना डरता था, उतना ही उसका अन्तर्मन मे उससे घृणा करता था । प्यारेलाल को पहले भी सन्देह था कि उसकी पत्नी उसकी कमाई पर अपने रिश्तेदारो को पालती है—पुलाव वाली घटना से वह सन्देह गहरे विश्वास के रूप में बदल गया ।

"यो प्यारेलाल के व्यक्तित्व में अव भी किसी तरह की तीव्रता समाविष्ट नही हुई थी। वह हर समय हँसता रहता और गरमागरम पुलाव के नारे लगाता रहता। केवल अपनी पत्नी का नाम सुनते ही वह गम्भीर हो जाता। शुरू-शुरू मे मैंने उसकी पत्नी को उससे मिलने नहीं दिया, क्योंकि वह स्वयं उससे मिलने को राज़ी न होता था। वाद में वह उससे मिलने को तैयार हो गया, पर जव उसकी पत्नी उससे मिलने आई, तो वह उस पर वुरी तरह गरजा। दो-एक सिपाहियों की सुरक्षा में मेरी सलाह से वह औरत चुपचाप अपने पति की गरज सुनती रही।

"प्यारेलाल का इलाज करने मे तो मुझे अधिक समय नही लगा, परन्तु उसे फिर से पत्नी के साथ घर वना कर रहने को तैयार करने में मुझे पूरे तीन साल लग गए। तीन साल के वाद यह जानकर मुझे सन्तोप हुआ कि प्यारेलाल अपनी पत्नी के साथ एक साधारण गृहस्थ का-सा जीवन विता रहा है। प्यारेलाल की नौकरी तो जाती रही थी, इससे घर पर ही उसने नून-तेल-लकड़ी की एक छोटी-सी दुकान खोल ली थी। इस दुकान को चलाने में उसकी पत्नी भी उसे भरसक सहायता दे रही थी। दोनो तगी में थे, पर जिस किसी तरह उनका जीवन-निर्वाह हो ही रहा था।"

इतना कह कर डाक्टर रामपाल चुप हो गए। डाक्टर सक्सेना भी चुपचाप वैठे अपने मित्र की ओर देखते रहे। दो मिनट की चुप्पी के वाद डाक्टर रामपाल ने फिर से कहना शरू किया—

"आज से सिर्फ २५ दिन पहले की वात है। उस दिन भी सरदी वहुत अविक थी। रात-भर पानी वरसता रहा था और सूर्योदय से पहले आकाश एकाएक स्वच्छ हो गया था। उस कड़ाके की सर्दी में रज़ाई छोड कर वाहर निकलने को जी न करता था। तभी एकाएक अपने मकान के सहन से किसी व्यक्ति के ज़ोर-ज़ोर से रोने का अत्यन्त करुण स्वर मुझे सुनाई दिया। यह अस्पताल है—मानसिक रोगो का ही सही। यहां मृत्यु का परिचय तो सम्पूर्ण वस्ती को है। पर उस रोदन में कुछ ऐसी द्रावकता थी कि सुनने वाला पसीज कर ही रहे।

"शीघ्रता से लबादा ओढकर मै सहन के वरामदे में निकल आया, तो देखा—वही पुलाव वाला प्यारेलाल ! साथ के लोगो ने बताया कि वह कल साझ से रो रहा है—उस समय से, जबकि उसकी पत्नी की चिता को लगाई गई आग एकाएक भडक उठी थी। तब से अब तक वह लगातार इसी तरह ज़ार-ज़ार रो रहा है। थक कर बीच में कुछ देर के लिए सो ज़रूर गया था। पर जागृत दशा में क्षण-भर के लिए भी वह चुप नही हुआ। यह तो पूरी तरह स्पष्ट था कि प्यारेलाल फिर से पागल बन गया था।

"प्यारेलाल की इस बार की कहानी सचमुच बहुत करुण थी। जाच-पडताल से मालूम हुआ कि वह बडी गरीबी से अपना जीवन-निर्वाह कर रहा था। पर उसके आचरण से किसी को कोई शिकायत नही थी। अब वह पहले की अपेक्षा कहीं अधिक शान्त और भलामानस माना जाता था। उसकी पत्नी का स्वभाव भी बदल गया था। प्यारेलाल की बीमारी के दिनो में उसके भाई-बन्दो ने उसका साथ नही दिया था। इस लम्बी कष्ट-परीक्षा में वह बेचारी प्यारेलाल से भी अधिक कमज़ोर हो गई थी। प्यारेलाल को तो फिर भी पागल-खाने में अच्छा-खासा भोजन मिलता रहा था, पर उसकी पत्नी लगातार बहुत तंगी और अभाव में रही थी।

"नवम्बर के अन्त में प्यारेलाल की पत्नी एक बच्चे की मा बनी। मा और बच्चा, दोनो बहुत कमज़ोर थे। प्यारेलाल में अपनी पत्नी को पूरा भोजन देने की भी सामर्थ्य नही थी, वह इनका इलाज कहा से करवाता ? उसकी पत्नी अपने नवजात शिशु को यथेष्ट दूध भी न दे पाई। सप्ताह-भर के भीतर ही शिशु का देहान्त हो गया।

"अपने भीतर की कमज़ोरी और बीमारी, अपर्याप्त भोजन और उस पर सन्तान-वियोग की जलन। प्यारेलाल की पत्नी की दशा बहुत दयनीय हो गई। गरीब प्यारेलाल से जो-कुछ बन पडता, वह करता। मगर सच बात तो यह है कि आज की दुनिया में जो-कुछ करता है, वह रुपया करता है— इन्सान कुछ नही करता। इसलिए प्यारेलाल चाहते हुए भी कुछ न कर सकता था।

"फिर इस साल सरदी भी तो वहुत पड़ रही है, सक्सेना । एक तो यह सरदी गरीवी मे सताती है, दूसरे वीमारी में । और, प्यारेलाल की पत्नी गरीव और वीमार, दोनों ही थी । घर की पुरानी चटाई, चीथड़ानुमा कम्वल, लोग्गड़नुमा रजाई, सव उसने अपनी घरवाली को दे दिए । फिर भी, वह वेचारी सरदी में दांत वजाती रहती थी । जव कभी प्यारेलाल उसका हाल पूछता, वह वड़ी करुणा से कहती—'सरदी ! सरदी !! मुझे सरदी लग रही है !!!'

"और, २३ दिसम्वर के प्रात काल, जिस दिन सूर्य उत्तरायण होना आरम्भ करता है, जिस दिन भीष्म पितामह ने स्वेच्छापूर्वक पुराने चीथडो के समान अपने शरीर का विसर्जन किया था, उस दिन शायद कडकडाते जाडे के कारण ही प्यारेलाल की पत्नी का देहान्त हो गया । वह वेचारी सरदी से इतनी सिकुड़ गई थी कि उसकी देह को सीधा भी नही किया जा सका । उस दिन सरदी और भी अधिक थी—वीच-वीच मे वूदा-वादी भी हो रही थी । गिने-चुने पांच-सात पड़ोसी उसकी देह को श्मशान में में ले गए ।

"पत्नी के देहान्त के वाद भी सभी आवश्यक कार्य प्यारेलाल पूरे होश-हवास में करता रहा था । पत्नी के शव को उसी ने नहलाया, उसी ने उसके कपडे वदले और उसी ने सधवा की माग में सिन्दूर भरा । लोगो के मना करने पर भी सारी रात प्यारेलाल अपनी पत्नी की अन्तिम यात्रा में लगातार कन्धा दिए रहा । चिता को अग्नि भी उसी ने दी ।

"पर चिता जलने के साथ ही, प्यारेलाल अपना मानसिक सन्तुलन एकाएक खो वैठा । वात यह हुई कि प्यारेलाल ने ज्यो ही चिता को आग दी, चिता का फूस तीव्रता से सुलग उठा । इस जलते फूस में से प्यारेलाल की पत्नी का शरीर स्पष्टत दिखाई दे रहा था । आग की गरमी और दोनो ओर की लकड़ियो के वोझ से शव में एका-एक गति दिखाई दी, जैसे प्यारेलाल की पत्नी सरदी की जकड से छुटकारा पाकर मजे मे अपने पाव पसार रही हो । प्यारेलाल पास ही खडा था । उसका कहना था कि उसने खुद, अपनी आखो से, अपनी पत्नी को मुस्कराते देखा है, अपने कानो से उसकी पुकार सुनी है !

"यह सब काम एक क्षण में हुआ और एकाएक प्यारेलाल चीख उठा—'बचाओ! बचाओ! मेरी घरवाली को बचाओ! वह सरदी से बचना चाहती थी, आग से जलना नही!' प्यारेलाल चीखा-चिल्लाया, चिता की आग बुझाने को वह आगे भी बढा। मगर साथ के लोगो ने उसे कुछ भी न करने दिया। देखते-ही-देखते चिता धधक कर जलने लगी और उधर प्यारेलाल ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा। उसकी आखो से देखी मुस्कराहट और कानो से सुनी पुकार पर किसी ने विश्वास ही नही किया।

"बड़ी कठिनाई से मै प्यारेलाल को चुप करा पाया। परन्तु आज भी उसका पूर्ण विश्वास है कि सरदी की लम्बी जकड़ से छुटकारा पाकर चिता में उसकी पत्नी ने अगडाई ज़रूर ली थी, होश में आकर वह स्पष्टत. मुस्कराई थी और साफ आवाज़ में उसने प्यारेलाल को पुकारा भी था। अब प्यारेलाल अधिक नही बोलता, फिर भी कभी-कभी कराहपूर्ण स्वर में एकाएक चिल्ला उठता है—'सरदी! सरदी!!' जैसे, वह कोई दु स्वप्न देख रहा हो।

"सबसे अजीब बात यह है कि पुलाव-सम्बन्धी एक भी बात अब उसे याद नही है। उसकी समझ म तो यह भी नही आता कि लोग उन्हे 'पुलाव वाला' कहकर क्यो बुलाते है।"

वह पैसा

जैनेन्द्र कुमार

"पैसा पात्र कुपात्र नही देखता । क्या यह सच है ?"

राजीव ने यह पूछा । वह आदर्शवादी था और एम० ए० और लॉ करने के वाद अव आगे वढ़ना चाहता था । आगे वढ़ने का मतलव उसके मन में यह नही था कि वह घर के काम-काज को हाथ में लेगा । घर पर कपड़े का काम था । उसके पिता, जो खुद पढ़े-लिखे थे, सोचते थे कि राजीव सव संभाल लेगा और उन्हें अवकाश मिलेगा । घर के धंधे पीटने में ही उमर गई है । चौयापन आ चला है और अव वह यह देख कर व्यग्र है कि आगे के लिए उन्होंने कुछ नही किया है । इस लोक से एक दिन चल देना है, यह उन्हें अव वार-वार याद आता है । लेकिन उस यात्रा की क्या तैयारी है ? सोचते है और उन्हें वड़ी उलझन मालूम होती है । लेकिन जिस पर आस वाधी थी वह राजीव अपनी धुन का लड़का है । जैसे उसे परिवार से लेना-देना ही नही । ऊँचे खयालो में रहता है, जैसे महल खयाल से वन जाते हों ।

राजीव के प्रश्न पर उन्हें अच्छा नही मालूम हुआ । जैसे प्रश्न में उनकी आलोचना हो । वोले—"नही, धन सुपात्र में ही आता है । अपात्र पर आता नही, आए तो वहा ठहरता नही । राजीव, तुम करना क्या चाहते हो ?"

राजीव ने कहा—"आप के पास धन है । सच कहिए, आप प्रसन्न हैं ?"

पिता ने तनिक चुप रह कर कहा—"धन के विना प्रसन्नता आ जाती है, ऐसा तुम सोचते हो तो गलत सोचते हो । तुम म लगन है । सृजन की

चाह है। कुछ तुम कर जाना चाहते हो। क्या इसीलिए नही कि अपने अस्तित्व की तरफ से पहले निश्चित हो। घर है, ठौर-ठिकाना है। जो चाहो, कर सकते हो। क्योंकि खर्च का सुभीता ह। पैसे को तुच्छ समझ सकते हो, क्योंकि वह है। मैं तुमसे कहता हूं राजीव कि पैसे के अभाव में सब गिर जाते है। तुमने नही जाना, लेकिन मैंने उस अभाव को जाना है। तुमने पूछा है और मैं कहता हूँ कि हा मैं प्रसन्न नही हूं। लेकिन धन के बिना प्रसन्न होने का मेरे पास और भी कारण न रहता। तुम्हारी आयु तेइस वर्ष पार कर गई है। विवाह के बारे में इकार करते गए हो। हम लोगो को यहा ज्यादा दिन नही बैठे रहना है। तब इस सब का क्या होगा। बेटिया पराए घर को होती है। एक तुम्हारी छोटी बहन है, उसका भी ब्याह हो जाएगा, लडके एक तुम हो। सोचना तुम्हें है कि फिर इस सब का क्या होगा। अगर तुम्हारा निश्चय हो कि व्यवसाय में नही जाना है, तो मैं इस काम-धाम को उठा दू। अभी तो दाम अच्छे खड़े हो जाएगे। नही तो मेरी सलाह तो यही है कि बैठो, पुश्तैनी काम को सभालो, घर-गिरस्ती बसाओ। और हमको अब परलोक की तैयारी में लगने दो। सच पूछो तो अवस्था हमारी है कि देखें जिसे धन कहते है वह मिट्टी है। पर तुममें आकाक्षा है। चाहे उन्हें महत्वाकांक्षाए कहो। महत्त्व की हो, या कैसी भी हो, आकाक्षा के कारण धन धन बनता है। इसलिए तुमको उधर से विमुख मैं नही देखना चाहता। विमुख मैं स्वय अवश्य बनना चाहता हू। क्योंकि आकाक्षा अब शरीर के वृद्ध पडते जाने के साथ हमें त्रास ही दे सकेगी। आकाक्षा इसी मे अवस्था आने पर बुझ-सी चलती है। तुमको आकाक्षाओ से भरा देखकर मुझे खुशी होती है। अपने में उनके बीज देखता हू तो डर होता है। क्योंकि उमर बीतने पर जिधर जाना है उधर की सम्मुखता मुझमें समय पर न आएगी तो मृत्यु मेरे लिए भयकर हो जाएगी। तुम्हारे लिए आगे जीवन का विस्तार है। मुझे उसका उपसहार करना है और तैयारी मृत्यु की करनी है। ससार असार है यह तुम नही कह सकते। हा, मैं यदि वहा सार देखू तो अवश्य गलत होगा। तुम समझते तो हो। कहो, क्या सोचते हो ?"

राजीव पिता का आदर करता था। वह चुपचाप सुनता रहा। पिता की वाणी में स्नेह था, पीड़ा थी, उसमें अनुभव था। लेकिन जितने ही अधिक ध्यान से और विनय से पिता की बात को उसने सुना, उसके मन से अपने सपने दूर नही हुए। अनुभव अतीत से सम्बन्ध रखता है। वह जैसे उसके लिए था ही नही। वह जानता था कि कमाई का चक्कर आने वाले कुछ वर्षो में खत्म हो जाने वाला है। यह बुरजुआ समाज आगे रहने वाला नही है। समाजवादी समाज होगा जहां अपने अस्तित्व की भाषा में सोचने की आवश्यकता ही नही रह जाएगी। आप सामाजिक होगे और समाज स्वत. आपका वहन करेगा। आपका योग-क्षेम आपकी अपनी चिन्ता का विषय न होगा। राजीव पिता की बात सुनते हुए भी देख रहा था कि धनोपार्जन जिनका चिन्तन-सर्वस्व है ऐसा वर्ग क्रमश. मान्यता से गिरता जा रहा है। कल करोड़ो में जो खेलता थे आज चार-सौ रुपए पानेवाले मजिस्ट्रेट के हाथो जेल भेज दिया जाता है। वह वर्ग शोषक है, असामाजिक है। इसके अस्तित्व का आधार है कम दो, ज्यादा लो। हर किसी के काम आओ, इस शर्त के साथ कि अधिक उससे अपना काम निकाल लो। यह सिद्धात सभ्यता का नही है, स्वार्थ का है, पाप का है। इस पर पलने-पुसनेवाले वर्ग को समाज कब तक सहता रह सकता है? असल में यह घुन है जो समाज के शरीर को खा कर उसे खोखला करता रहता है। उस वर्ग की खुद की सफलता समाज के व्यापक हित को कीमत में देने पर होती है। यह ढोंग अब ज्यादा नही चल सकता। इस वर्ग को मिटना होगा और फिर समाज वह होगा जहां हर कोई अपना हित निछावर करेगा। फुलाए और फैलाएगा नही। स्थापित स्वार्थ, संयुक्त परिवार का, वर्ग का, जाति का, सब लुप्त हो जाएगा। स्वार्थ एक होगा और वह परमार्थ होगा। हित एक होगा और वह सबका हित होगा।

पिता की बात सुन रहा था और राजीव का मन इन विचारो के लोक में रमा हुआ था। पिता की बात पूरी हुई तो सहसा वह कुछ समझा नहीं कुछ देर चुप ही बना रह गया। कारण, बात की सगति उसे नहीं मिल रही थी।

पिता ने अनुभव किया कि बेटा वहां नही कही और है। उन्हें सहानुभूति हुई और वह भी चुप रहे। राजीव ने उस चुप्पी का असमजस अनुभव किया। हठात् बोला—"तो आप मानते है, कुपात्र के पास धन नही होगा। फिर इजील में यह क्यो है कि कुछ भी हो जाए धनिक का स्वर्ग के राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता। उससे तो साबित होता है कि धन कुपात्र के पास ही हो सकता है।"

पिता को ऐसी बातो पर रोष आ सकता था। पर इस बार वह गम्भीर हो गए। मन्द वाणी में बोले—"ईसा की वाणी पवित्र है, यथार्थ है। वह तुम्हारे मन में उतरी है, तो मै तुमको बधाई देता हू और फिर मुझे आगे नही कहना है।"

राजीव को तर्क चाहिए था। बोला—"आप तो कहते थे कि—"

पिता और आर्द्र हो आए, बोले—"मै गलत कहता था। परम सत्य वह ही है जो बाइबिल में है। भगवान तुम्हारा भला करे।" कहकर वह उठे और भीतर चले गए। राजीव विमूढ-सा बैठा रह गया। उसकी कुछ समझ में न आया। जाते समय पिता की मुद्रा में विरोध या प्रतिरोध न था। उसने सोचा कि मेरे आग्रह में क्या इतना बल भी नही है कि प्रत्याग्रह उत्पन्न करे? या बल इतना है कि उसका सामना हो नही सकता। उसे लगा कि वह जीता है। लेकिन जीत में स्वाद उसे बिलकुल नही आया। वह आशा कर रहा था कि पैसे की गरिमा और महिमा सामने से आएगी और वह उसको चकनाचूर कर देगा। उसके पास प्रखर तर्क थे और प्रबल ज्ञान था। उसके पास निष्ठा थी और उसे सर्वथा प्रत्यक्ष था कि समाजवादी व्यवस्था अनिवार्य और अप्रतिरोध्य होगी। पूजी की सस्था कुछ दिनो की है और वह विभीषिका अब शीघ्र समाप्त हो जाने वाली है। उसको समाप्त करने का दायित्व उठानेवाले बलिदानी युवको में वह अपने को गिनता था। वह यह भी जानता था कि नगर के मान्य व्यवसायी का पुत्र होने के नाते उसका यह रूप और भी महिमान्वित हो जाता है। उसे अपने इस रूप में रस और गौरव था। वह निश्शक था कि भवितव्यता को अपने पुरुषार्थ से वर्तमान पर उतारने वाले योद्धाओ की पक्ति मे वह सम्मिलित है।

उसमें निश्चित धन्यता का भाव था कि वह क्रांति का अनन्य सेवक बना है। वह तन-मन के साथ धन से भी उस युग निर्माण के कार्य में पड़ा था और उसके वर्चस्व की प्रतिष्ठा थी। मानो उस अनुष्ठान का वह अध्वर्यु था।

लेकिन पिता जब संतोष और समाधान के साथ अपनी हार को अपनाते हुए उसकी उपस्थिति से चुपचाप चले गए तो राजीव को अजब लगा। मानो कि उसका योद्धा का रूप स्वयं उसके निकट व्यर्थ हुआ जा रहा हो। उसका जी हुआ कि आगे बढ़कर कहे कि सुनिए तो सही, पर वह स्वयं न सोच सका कि सुनाना अब उसे शेष क्या है। पिता उसे स्वस्ति कह गए हैं, मानो आशीर्वाद और अनुमति दे गए हों। पर यह सहज सिद्धि उसे काटती-सी लगी। वह कुछ देर अपनी जगह ही बैठा रहा। तुमुल द्वंद्व उसके भीतर मचा और वह कुछ निश्चय न कर सका।

चौबीस घंटे राजीव मतिभूला-सा रहा। अगले दिन उसने पिता से जाकर कहा—"आज्ञा हो तो मैं कल से कोठी पर जाकर काम देखने लग जाऊं।"

पिता ने कहा—"क्यों बेटा ?"

"जी, और कुछ समझ नहीं आता।"

पिता ने कहा—"तुमने अर्थशास्त्र पढ़ा है। मैंने अर्थ पैदा किया है, शास्त्र उसका नहीं पढ़ा। शास्त्र धर्म का पढ़ा है। ईसा की बात इस शास्त्र की ही बात है। अर्थशास्त्र भी वही कहता है तो तुम जानो। मैं बी० ए० से आगे तो गया नहीं और अर्थशास्त्र की बारहखडी से आगे जाना नहीं। फिर भी वहां शायद मानते हैं कि अर्थ काम्य है। राजीव बेटा, धर्म में उसे काम्य नहीं माना है। इसलिए उसकी निन्दा भी नहीं है, उस पर करुणा है। तुम शायद मानते होगे, जैसे कि और लोग मानते हैं, कि तुम्हारा पिता सफल आदमी है। वह सही नहीं है। ईसा की बात जो कल तुमने कही बहुत ठीक है। बहुत ही ठीक है। मैं उसको सदा ध्यान में नहीं रख सका। तुमसे कहता हूं कि निर्णय तुम्हारा है। निर्णय यही करते हो कि कोठी के काम को सम्भालो तो मुझे उसमें भी कुछ नहीं है। तुम्हारी आत्मा तुम्हारे साथ रहेगी। मैं तो उसे सांत्वना देने पहुंच सकूंगा नहीं।

उसके समक्ष तुम्हें स्वयं ही रहना है। इसलिए मैं तुम्हारी स्वतन्त्रता पर आरोप नही ला सकता हूं। पर बेटे, मैं भूला रहा तो भूला रहा, धर्म की और इंजील की बात को तुम कभी मत भूलना। इतना ही कह सकता हू। समाजवादी हो, साम्यवादी हो, पूजीवादी हो, व्यवस्था कुछ भी हो, धर्म के शब्द का सार कभी खत्म नही होता। न वह शब्द कभी मिथ्या पड़ता है। उसे मन से भूलोगे नहीं तो शायद कहीं से तुम्हारा अहित न होगा। हो सकता है समाज का भी अहित न हो। राजीव, बहुत दिनों से सोचता रहा हू। अब पूछता हू कि हम लोग दोनों तुम्हारी मा और मैं, अब जा सकते हैं कि नहीं। अपनी बहन सरोज के विवाह को तो ठीक-ठाक तुम कर ही दोगे।"

राजीव ने कहा—"नहीं, नहीं, यह नहीं—"

पिता ने हसकर कहा—"लेकिन इतना जिम्मा तुम नही उठा सकते, यह मानने वाला मैं थोडे ही हू और—"

"वह तो ठीक है। लेकिन मेरा विवाह ?"

"तेरा! ·· तो यह बात है। अच्छा-अच्छा!"

राजीव ने उठकर पिता के चरण छूए। पिता ने उसके सिर पर हाथ रखा। उनकी आखो में आंसू आ गए थे। राजीव भी गद्‌गद् था। उसे याद नही रहा कि कुछ वर्ष हुए उसने घोषणा की थी कि पाव छूना गुलामी है, वह आदर देना नही है। तभी यह भी निश्चय हुआ था कि विवाह में पड़ना मन्द और बन्द होना है। उन वर्षों को एकदम मिटाकर कहा से कैसे यह क्षण उसके जीवन में आ गया था, किसी को पता न था। लेकिन उस क्षण में जैसे अनन्त धन्यता भरी थी।

जोगा

'पहाड़ी'

हमारे कस्बे में ग्रामोफोन का आगमन पहले-पहल फौज के पेन्शन-याफ्ता एक सूवेदार साहव की कृपा से हुआ था। शादी, मुण्डन, होली दीवाली, आदि सभी उत्सवों पर हम उस मशीन का दिल खोल कर उपयोग किया करते थे। उसके साथ के रिकार्ड चिकने पड़ गए थे और तीखी चिरचिराहट के साथ वजा करते थे। पर सुनने के शौकीन घिसी हुई सुइयों का वार-वार उन पर प्रयोग करते और ऐसा मुंह वनाते कि मानो वे विल्कुल नई हों। सूवेदार साहव का कहना था कि वह वहुत नाजुक मशीन थी। शुरू-शुरू में वे स्वयं ही उसे वजाया भी करते थे। फिर उनके भतीजे को यह अविकार मिल गया था और अव तो ग्रामोफोन के साथ उनके भतीजे साहव की इज्ज़त भी वढ गई थी और सूवेदार साहव उस भार से मुक्त हो गए थे। अव उसे व्यवहार में लाने के लिए उनकी इजाज़त की आवश्यकता भी नही रह गई थी। इससे उनके भतीजे साहव के नखरे वहुत वढ़ गए और उनको मनाने के कई नुस्खे वहाँ के लोगों ने निकाल लिए। जिस किसी परिवार को मशीन की ज़रूरत होती, वह उनको खासी दावत दिया करता और कई परिवारों की महिलाए उनको मफलर, मोजे, आदि वुनकर देती, कि समय पर वाजा मिलने में कोई वाधा न पडे।

ग्रामोफोन के आगमन के वाद पुश्तैनी वाजा वजाने वाले हरिजनो के परिवार मे हलचल मच गई और लगा कि अव उनका कारोवार

बन्द हो जाएगा। उनको अपनी हालत नाइयो के समान मालूम पड़ी, जो कि ब्लैंडो के आगमन के बाद, परिवार में सेफ्टीरेजर के साथ अपनी रोजी में मन्दी पा रहे थे। इसीलिए हरिजनो का एक शिष्ट-मंडल सूबेदार साहब के घर पर गया और उनसे आश्वासन पाकर कि अभी तो सारे कस्बे में एक ही ग्रामोफोन है, उनकी चिन्ता कुछ कम हो गई। फिर भी, वे लड़को से जानकारी प्राप्त करते रहते थे और यह सुन कर कि ग्रामोफोन में वह सामूहिक आनन्द नही है, जो कि शहनाई, ढोल, तुरही आदि बाजो में है, उन्हें बड़ी खुशी होती थी। सभी लोग उस मशीन के बडे फूल को देखते थे और फिर घूमते हुए रिकार्ड पर, जिस पर बना हुआ 'कुत्ता' तेजी से चक्कर काटता था। सूबेदार साहब ने बताया था कि 'कुत्ता' मजबूती का निशान है और कम्पनी का 'ट्रेडमार्क' है।

वह ग्रामोफोन विलायत की किसी कम्पनी का बनाया हुआ था और सूबेदार साहब को कोई फौजी कप्तान जर्मनी की सन् चौदह की लड़ाई में जाने पर अपनी यादगार में दे गया था। वह अफसर कहा चला गया, उनको मालूम नही था। फिर लड़ाई को बीते हुए भी कई साल गुजर गए थे और सन् १९२७ ई० में तो सूबेदार साहब भी पेन्शन पर आ गए थे। वह मशीन बहुत भारी थी। एक लड़का तो केवल उसका फूल ही उठा पाता था। जब उसे सजा कर किसी महफिल के बीच रखा जाता था, तो वह रोबीला लगता था।। वह बाजा सभी का मनोविनोद किया करता था—मुन्नी बाई तथा गौहर जान के गलो की कलाबाजिया सुन कर सभी मुग्ध हुआ करते थे। कई सगीतज्ञो ने तो बीच में ताल देना भी शुरू कर दिया था और वे बीच में यह बताने में भी न चूकते थे कि बाई जी बेसुरी हो गई थी तबले वाले ने सम्भाल लिया, नही तो सब रंग फीका पड जाता।

होली के दिन थे। रात को मशीन के कई नए कार्यक्रमो के बाद जब ग्रामोफोन चालू किया गया, तो मुन्नी बाई कुछ देर तक नाज-नखरे के साथ गाती रही और फिर 'चट' की-सी आवाज हुई और लगा कि मानो किसी ने बाई जी का गला दबोच दिया हो। भारी आवाज के साथ

रिकार्ड का चलना धीमा हो गया और फिर वह अपने-आप ही बन्द भी हो गया। सभी ने अपनी बुद्धि दौड़ाई, पर नतीजा कुछ नही निकला। कानूनगो-परिवार की महिला ने अपने पुत्र की ओर भारी उम्मीद के साथ देखा। लड़के के पिता ने बताया था कि वह सातवी में साइस लिए है और आगे चल कर बडा इंजीनियर बनेगा। पर वह भी राय देने में असफल रहा। बडी मायूसी के साथ कार्यकर्ताओं ने ऐलान किया कि कार्य-क्रम समाप्त किया जाता है। लेकिन सभी परेशान थे कि सूबेदार साहब को क्या जवाब दिया जाएगा। वह बाजा लगभग एक साल से वहां के लोगो का मनोविनोद किया करता था। अब लगा कि हमारा वह अभिन्न मित्र सदा के लिए हमसे बिछुड़ गया है। लेकिन एक ढाढ़स तो था कि सूबेदार-परिवार की छोटी वहू समारोह मे थी। वह अवश्य ही अपनी सास को बताएगी कि किसी ने जान-बूझ कर शरारत नही की। उसने अपनी सहेलियों से यह बात कही भी थी कि किसी का कसूर नहीं है।

समारोह समाप्त होने पर भी सयोजक-मंडली बडी देर तक उस स्थिति पर विचार करती रही और काफी विचार-विनिमय के बाद तय हुआ कि वह मशीन जोगा लोहार को दिखलाई जाए। कस्बे के नुक्कड़ पर मुख्य बाज़ार के पिछवाड़े जो हरिजनो की बस्ती थी, वहा वह अपनी दुकान पर काम करता था। वह बूढा प्रति दिन आखो पर छोटे-छोटे चश्मे लगाए हुए कई पुर्जों को बारीकी से भांपा करता था। उस मोहल्ले में और कारीगर भी रहा करते थे, जो कि न-जाने कितनी पीढियो से अपनी कारीगरी की वस्तुओ के निर्माण से कस्बे की आवश्यकताएं पूरी किया करते थे। जोगा के शरीर में उसके परदादा, दादा, पिता से पाया हुआ खून बहता था, जिसमें एक कुशल लोहार के सभी गुण थे। वह खच्चरो के पावो के साधारण खुरो से लेकर खेती की आवश्यकता के सभी सामान बनाया करता था। लोगों का कहना था कि उसका बनाया हुआ हंसिया इतना तेज़ होता है कि उससे भैंस की गरदन एक बार में ही उड़ जाती है। इसीलिए तांडव-नृत्य या अन्य समारोहों में जहा कि बलिदान हुआ करते थे, उसकी बनाई और तेज़ की गई

थमाली ही व्यवहार में लाई जाती थी। जिस गाव में उत्सव हुआ करता था, वहां का मुखिया आकर अपने हथियार ठीक करवा के ले जाता था। समारोह के बाद उस कारीगर के सम्मानार्थ एक 'सीधा' (खाने का पूरा कच्चा सामान), पाच आने और किसी जानवर का सिर उसके पास भेज दिया जाता था। समीप के गावो के समारोहो में वह खुद भी शामिल हुआ करता था।

उस रात्रि को, जबकि सभी लोग ग्रामोफोन की समस्या से उलझे हुए थे, तो न-जाने किसने उस कारीगर का नाम ले लिया और सबको भरोसा हो गया कि वह अवश्य ही इस मुसीबत को हल कर देगा। फिर तो, सब मिलकर उसके ज्ञान-भडार की बातें करने लग गए। किसी ने उसका दावा बताया कि वह किसी भी तरह की मशीन को बना लेगा। एक बार उसने एक अलार्म की घडी ठीक की थी। दूसरे का कहना था कि वह बन्दूक तथा दूसरे हथियार बनाना भी जानता है। एक वृद्ध महोदय ने तो उसके परिवार का इतिहास शुरू करते हुए बताया कि आज राज-दरबार वहां से भले चला गया है, पर एक ज़माना था, जबकि उसके पुरखे रगीन अगरखा पहनते थे और सदा ही राज-दरबार के शिकार में शरीक होते थे। उसका परिवार युद्ध के अस्त्र-शस्त्र बनाने में निपुण था। गोरखो ने जब यह देश जीता, तो उसके दादा को अपने यहां नौकर रखना चाहा था। वे चाहते थे कि वह उनके लिए खुकरिया बनाया करे। लेकिन उसने अपनी असमर्थता प्रकट की थी।

(२)

अगले दिन हम लोग जोगा की दुकान पर पहुचे। वह एक छोटा एकमजिला कमरा था। उसका लडका आग पर लोहे के टुकडे को गरम कर बार-बार हथौडे की चोटें उस पर मार रहा था। उस लाल लोहे से चिनगारिया उड रही थी। फिर वह उस लोहे के टुकडे को पानी में डालता और वह नाग के-से स्वर में फुफकार उठता। वह वृढा अब उस लोहे को देखकर सावधानी से परख कर बोला कि यह जर्मनी का नहीं है, विलायती है। जर्मनी वालो की तरह पक्का लोहा गलाना कोई नहीं जानता है। फिर सावधानी से उसकी जांच करके

वोला कि उसका पुर्ज़ा कमज़ोर रहेगा, वह अधिक लचकदार होगा और ज्यादा दिन नही चलेगा । हमको देख कर वोला कि यह लोहा क्या मज़वूत है—इससे अच्छा लोहा तो हमारी पहाडी खानो में पैदा हुआ करता था। हमारे पुरखे उसी से अपनी ज़रूरत की चीज़ें वनाया करते थे। फिरंगी ने आकर उन खानो को वन्द कर दिया और न-जाने कहां से यह कच्चा लोहा भेज दिया है, जो हमारे यहा की आवोहवा के लिए वेकार है। यह वहुत महंगा पड़ता है। हमारे लोहे के हथियार आज भी पुराने खानदानो के यहा पडे होगे। उनको देखने से पता चलेगा कि हमारा लोहा क्या था। एक वार दिल्ली के मुगल-दरवार को यहां से कुछ हथियार वना कर भेजे गए थे, तो वहां के राजा ने सोचा कि यह देश वहुत अमीर है और इस पर चढ़ाई करने की ठहराई थी। लेकिन हमारा दीवान वहा गया और उसने वहां के राजा को वताया कि उनका देश वहुत गरीव है। इस पर मुगल वादशाह हँसा और वोला कि वहा तो सोने-चादी के पहाड होते हैं। इस पर दीवान ने अपनी जेव पर से करेला निकाल कर वताया था कि इस तरह की ऊंचाई-निचाई है— खेत नही, वाग नही। वस, वह वादशाह वहुत खुश हुआ और उसी समय हुक्म दिया कि इधर कोई टैक्स न लगाया जाए।

हमें यह वताया जा चुका था कि जोगा हमारे इतिहास का एक वड़ा भंडार है और जव कभी कोई उसकी दुकान पर जाता है, वह पुरानी वातें वता कर वड़ा समय ले लेता है। हमें उसकी वातो को सुनने का उत्साह उस समय नहीं था और शायद वह इस वात को समझ भी गया। उसने विना किसी भावुकता के वह मशीन ले ली और हस कर वोला कि मशीन तो जर्मनी की है, पर उसका स्प्रिंग एकदम विलायती कच्चे लोहे का है। इन विलायत वालो को तो वस, दुकानदारी करनी आती है कि रुपया कमाया जाए। कच्चा स्प्रिंग लगा दिया, जो कि ज़ंग खा जाता है और फिर यदि कम्पनी से नया मंगाइए, तो वस, वीस रुपया—मानो वहां से हाथी-घोड़ा मगवाया गया है। फिर हम लोगो को सम्वोधित करके वह वोला—फिरगी हमें लूट रहा है। उसे खुद तो माल वनाना आता नही है, जर्मनी का माल अपने नाम से वेचता है।

लेकिन हमारे आगे तो उस ग्रामोफोन की समस्या थी। हमारी उत्सुकता को जान कर वह बोला कि शाम तक टाका लग जाएगा। हम कुछ कहें इससे पहले ही उसने बताया कि एक रुपया मजदूरी होगी और आठ आना अग्रिम देना होगा क्योंकि मसाला खरीदना पड़ेगा। फिर उसने बताया कि कारोबार की हालत ठीक नहीं है और गुजर बड़ी कठिनाई से होती है। उसने यह भी कहा कि इस काम में पाच आने से अधिक की बचत नहीं है। टूटे स्प्रिंग पर टाका तो बड़ी कम्पनिया भी लगाना नहीं जानती हैं। उनका तो दो-टूक जवाब होता है कि स्प्रिंग बदला जाएगा। कम्पनी को तो अपना मुनाफा चाहिए। खरीदार की कोई परवाह उनको नहीं रहती है। यह मशीन भी बीस-तीस रुपए में तैयार हो सकती है। यदि उसके पास साधन होते तो वह इनसे अच्छी मशीनें बना सकता था। आवाज़ भरना नई बात थी, पर वह तो उसके पेशे की बात नहीं थी और न उसका उनसे कोई सम्बन्ध ही था।

सावधानी से उस स्प्रिंग को आलमारी पर रख कर उसने अपना हुक्का भरा और बड़ी देर तक खानता रहा। वह पिछले चार-पाच साल से दमे का मरीज हो गया था और बहुधा बीमार रहा करता था। कई भारी-भारी दम लगा कर उसने चिलम रख दी। किसी ने चुपके से मेरे कान में यह भी कहा था कि वह चरस पीता है। पर वह नशा करना आवश्यक था। जो व्यक्ति अपने अतीत की स्मृतियों का इतना बड़ा खज़ाना संवारे हुए हो, उसका मन आज का हाल देख कर सचमुच ही मुरझा जाएगा। सम्भवत. इसीलिए वह नशा करता होगा। उसकी आंखें लाल हो गई थी और गला भारी पड़ गया था। वह कुछ सोचकर बोला—"आज पहले ज़माने के लोगों वाली बात नहीं रह गई है। आज तो ज़माना ही बदला हुआ नज़र आता है।"

वह जाति का हरिजन था और मशीन के नए ज़माने के आने के साथ इस तरह के कारीगरों का सम्मान घटता चला जा रहा था। यह सभी जानते थे कि हरिजनों को वे सामाजिक अधिकार प्राप्त नहीं थे जो और ऊंची जाति वालों को प्राप्त थे। फिरंगी ने दस्तूरे-अमल—पुराने रीति-रिवाज़ों के आधार पर— वहां के लिए कानून बनाए थे। उन कानून

के अन्तर्गत हरिजनो को कोई सामाजिक अधिकार नही था। जोगा अपने वडे लड़के की शादी धूमधाम से करना चाहता था और उसकी वारात जव एक गाव से गुज़र रही थी, तो वहां के राजपूतों तथा ब्राह्मणों ने वहू को पालकी पर चढ़कर गांव के वीच से नही जाने दिया था। जोगा उस अपमान के घूट को चुपचाप पीकर लौटा था और तव से उसकी हालत नही सुवरी थी। अव तो वह काम पर भी मन नही लगाता था और अपने लड़कों को वताता था कि वहुत वुरा ज़माना आने वाला है। अव कारीगरों की कोई इज्ज़त नही रह जाएगी।

शाम को हम ग्रामोफोन लेकर फिर होली का समारोह मनाने की तैयारी करने लगे। रात को कई स्वाग किए जाने वाले थे और हमने उस समारोह मे आने के लिए जोगा को भी निमन्त्रित किया था। उसे निमंत्रण देने वाले मसले पर आपस में वड़ी देर तक वहस होती रही। वूढ़े-वूढियो ने उस समारोह का वायकाट करने का नारा दिया, लेकिन हमारे आगे उनकी एक न चली। अव, जव वह ग्रामोफोन वजाया गया, तो उससे आवाज़ और सुरीली निकल रही थी। जोगा आंखें मूदे हुए वैठा सुनता रहा, फिर वोला कि आवाज़ और साफ़ होनी चाहिए। उसे यह मालूम हुआ कि शायद वह स्प्रिंग ठीक तरह नही कस पाया है और इसीलिए उसने आश्वासन दिया कि अगले दिन उसे खोल कर ठीक कर देगा। लेकिन जव उसे वताया गया कि सुई को केवल दो वार व्यवहार में लाना चाहिए, जवकि एक सुई पचास-साठ वार चलाई जा रही है, तो वह मुस्कराया और वोला कि फिरगी सव चीज़ों मे लूट मचा रहा है। उसने कुछ सुइया ली और उनकी नोक अपनी उंगलियों पर चुभाने की चेष्टा की—उनको परखा। फिर, कुछ देर तक न-जाने वह क्या सोचता रहा।

फिर वह सूवेदार साहव से वातें करने लगा। वे अग्रेज़ों के भक्त थे। उसे वता रहे थे कि अग्रेज वहादुर कौम है, लेकिन उसका कहना था कि जर्मनी वाले ज्यादा वहादुर हैं। वे अच्छे कारीगर भी है। वह उनके इस्पात पर मुग्ध था और उसकी अपनी धारणा थी कि लोहे का सामान जर्मनी वालो से अच्छा कोई नही वना सकता है। मज़ाक मे

वह कहता था कि विलायत वाले तो बस, टीन का सामान बना कर बेच सकते हैं।

मैं होली के बाद भी लगातार उससे मिलता रहा और वह मुझे कई बातें बताता रहा। उसका कहना था कि राज-दरबारों में कलाकारों की इज्जत होती थी और उनको प्रोत्साहन मिलता था। यही कारण था कि उस समय कारीगरों का ध्यान वस्तुओं के निर्माण की ओर अधिक था। फिर उसने बताया कि एक बार उसने एक बन्दूक बनाने की चेष्टा की थी और उसको इसमें सफलता भी मिल गई थी, पर उसे बताया गया कि यह काम गैर-कानूनी है। इसीलिए वह चुप हो गया और कभी इस पर नहीं सोचा। उसने कहा कि किसी मशीन को छूते ही, यदि कारीगर चैतन्य है, तो वह उसका ढांचा समझ जाएगा और फिर उसके दिमाग पर उसकी छाप पडेगी। उस पर कुछ विचार करने के बाद वह ढाचा पकड में आ जाएगा। इसके बाद उसके लिए वस्तु का निर्माण करना आसान हो जाता है। इस बात की सचाई को साबित करने के लिए उसने हमें ग्रामोफोन की एक सुई बना कर दी थी। सच ही, वह सुई मजबूत थी और उससे हमने सैकड़ो रिकार्ड बजाए थे। उसके लडके ने बताया था कि लगभग बीस रोज की मेहनत के बाद वह उक्त सुई बना पाया था।

जोगा से मेरी अन्तिम मुलाकात सन् १९२९ ईस्वी में हुई। मेरा एक साथी मैदान से आकर हमारे परिवार में टिका हुआ था। उसने चुपके से एक दिन मुझसे पूछा कि यहां कोई पुराना लोहार-परिवार तो नही है। उसकी बात को सुनते ही मुझे जोगा की याद आई और मैं उसे लेकर उसकी दुकान पर पहुंचा। उस समय उसकी सेहत अच्छी नहीं थी और वह चारपाई पर लेटा हुआ था। मैंने जोगा को अपने मित्र का परिचय दिया तो वह बहुत खुश हुआ। इसके बाद मेरा दोस्त लगातार जोगा के यहां जाया करता। मुझे उसने बताया था कि वह भारत के पुराने कला-कौशल पर एक किताब लिख रहा है और उसमें ऐसे कारीगरों का एक बड़ा हाथ रहेगा। इनमें से हर एक अपने पेशे के इतिहास की जीवित डायरी है। दोस्त

कुछ दिन वहां रह कर चला गया। जाते समय वह मुझसे कह गया कि जोगा की पूरी हिफाज़त की जानी चाहिए। उसने आश्वासन दिया कि वह कुछ रुपए भेजेगा। उसने यह भी बताया कि हमारे देश का दुर्भाग्य है कि ऐसे कारीगरों को आज पेट-भर खाना नहीं मिल पाता है।

उस कस्बे को छोड़े हुए लगभग बीस साल हो चुके है। सामन्त-वादी परिवारों का ढांचा टूट जाने के कारण हमारा परिवार उस कस्बे से निकल आया। पिताजी ने पेन्शन के बाद दूसरे शहर मे मकान बना कर वहीं रहने का निश्चय कर लिया था। हम लोग उन पुरानी बातो को भूल गए। फिर इधर ज़माना भी तो तेज़ी से बदल गया है।

कल मेरा वह पुराना मित्र एकाएक आ पहुंचा। वह आजकल एक बड़े सरकारी ओहदे पर है। हम लगभग बीस साल के बाद मिले थे। उसने पहला सवाल किया कि जोगा के परिवार का क्या हाल है? जोगा का परिवार! मैं क्या बचपन की सब बातो की गठरी संवार कर रखता हूं? लेकिन वह तो बोला ही कि पिछली बार जबकि वह हमारे परिवार में टिका था, तो उसको क्रान्तिकारी पार्टी ने देशी पिस्तौल बनवाने का काम सौंपा था। इसी सिलसिले में वह मुझ से भी मिला था। यह सुन कर सच ही मुझे आश्चर्य हुआ था कि जोगा देशी पिस्तौल बनाने में सफल हुआ था।

जोगा के लिए श्रद्धा से मेरा माथा झुक गया। शायद उसका परिवार आज अपना पेशा छोड़ कर कोई और रोज़गार कर रहा होगा। नए ज़माने के साथ नए आविष्कार हुए हैं—इनकी प्रगति मे जोगा-सरीखे कारीगरो का ही सबल सहयोग रहा है, जो कि अपने पेशे की प्रगति की ओर सदैव चेतन रह कर मानव की भलाई की बात सोचा करते थे।

हिप्नोटिस्ट

बेढब बनारसी

चायपान भी किसी विश्वविद्यालय से कम महत्व नहीं रखता। विश्वविद्यालय में भले ही केवल पुस्तकों पर मालिश होती हो, चायपान के अवसर पर विचारों का विनिमय होता है। चाय की घूट और मौलिकता में वही सम्बन्ध है, जो कामा बैसिलस और कालरा में है। गले के नीचे चाय उतरी नहीं कि विचार उबलते पानी की भाप की भाति निकलने लगते है। आप उन्हें रोक नहीं सकते। सुना करते थे कि अगूर की बेटी में ही यह गुण पाया जाता है—ढालने पर विचार ढलने लगते है। परन्तु चाय में यह गुण कम नहीं है। वशिष्ठ तथा अनिरुद्ध के साथ मैं चाय पी रहा था। वशिष्ठ यहा एक डिग्री कालेज में अग्रेजी के लेक्चरर है। पजाब के निवासी हैं। विभाजन के बाद कानपुर में आकर बस गए। आर्यसमाजी होने के कारण प्रगतिशील विचारो के हैं। कहते है—हम मानव है, वैदिक धर्म मानते है। यो जाति के बढई है। पर जाति आदि से क्या? सभ्य है, भले आदमी है।
त व्यक्ति है। इतना बहुत है। अनिरुद्ध वकील हैं। वकालत रण है। किसी प्रकार काम चल जाता है। किन्तु अभी है ही कितने को! पाच-छ साल हुए—इतने दिनो में तो पुत्र भी पिता च्छी तरह पहचान नही पाता।

एक प्याला चाय समाप्त हो चुकी थी, दूसरे का आरम्भ था। द्ध ने पूछा—"कल कोटि भास्करन के प्रदर्शन में आप गए थे?"